RNI क्र. 50309/85 डाक पंजीयन क्र. म.प्र./भोपाल/261/2015-17 प्रकाशन तिथि 28 फरवरी 2017

चकमक

बाल विज्ञान पत्रिका फरवरी-मार्च 2017

मूल्य ₹ 100

खिलाड़ी अम्मा

खेल-कूद में नहीं अनाड़ी
अपनी अम्मा बड़ी खिलाड़ी
बहुत खेल उन्हें आते हैं
बेट-बॉल उन्हें भाते हैं
दौड़ में कैसे फरवट भागे
रस्साकसी में सबसे आगे
पेड़ पे चढ़ने से न डरती
मछली-सी तैराकी करती
सितौलिया हो या गुल्ली डण्डा
ऊँचा रहता उनका झण्डा
हम बनें खिलाड़ी ठान लिया है
अम्मा को गुरु मान लिया है

- कमला भसीन

चित्र: चन्द्रमोहन कुलकर्णी

चकमक:0755- 4252927 9425010115 chakmak@eklavya.in

चकमक कविता कार्ड

पढ़ो और फिर चाहो तो अपने दोस्त को इसी कार्ड के दूसरी तरफ एक चिट्ठी लिखकर भेज दो।

कविता कार्ड के चार गुच्छे। एक गुच्छे में बारह कविताएँ। एक गुच्छे की कीमत है सिर्फ पचास रुपए।

इन्हें मँगाने के लिए तुम चकमक के पते पर लिख सकते हो। या हमें फोन कर सकते हो। या चाहो तो सीधे ऑनलाइन मँगा लो - www.pitarakart.in/chakmak_kavita_cards

बाल विज्ञान पत्रिका

चकमक

अंक 365-6 फरवरी-मार्च 2017

इस अंक में

4 काला और मैं - चन्दन यादव
6 टहनी पेन्सिल- विनोद कुमार शुक्ल
11 बोली रंगोली - गुलज़ार एवं बच्चे
16 वो चालीस मिनिट - नरेश सक्सेना
19 पेड़ - सुशील शुक्ल
20 बुढ़िया - फ्रांत्स होलर और निकोलाउस हाइडलबाख
22 स्कूल का पहला दिन - आयुषी
24 अगल-अगल पर एक जैसे - फेरिदल ओराल
26 अन्दाज़-ए-गुफ्तगू के क्या कहने - हिमान्शु बाजपेयी
28 हद है - पल्लवी वर्मा पाटिल
32 सवाल अपने आप से - दिलीप चिंचालकर
36 कवि शंख घोष और उनकी कविता - प्रयाग शुक्ल
38 कबाड़ में देखना, कला - चन्दन यादव
40 माधुरी पुरन्दरे की कहानियाँ... - संध्या टाकसाले
42 मेरा पन्ना
48 एक पेड़ की क्या कीमत है? - रेक्स डी रोज़ारियो
52 दीवार में एक सुराख - इट्गर कैरेट
54 नाचघर (भाग - 5) - प्रियम्वद
59 गोपाल भाण्ड के दो किस्से
60 हाइकू - तेजी ग्रोवर
62 लद्दाख की कहानी- अनजाने की दोस्ती - जय पंड्या
68 पीले और अन्य रंग को सेती चिड़िया - तेजी ग्रोवर
70 रेक्स को याद करते हुए - सी.एन. सुब्रह्मण्यम/रश्मि पालीवाल/ नाडिया जेनेवीव डी रोज़ारियो/कमल सिंह
74 इच्छू और बिनिया - शशि सबलोक
79 चित्रपहेली - कविता तिवारी

प्रिय दोस्तो,

इस अंक से चकमक अगले कुछ समय (शायद एक साल) तक दो माह में एक दफे तुम्हें मिलेगी। हर अंक में लगभग दो गुनी सामग्री होगी। इस दौरान हम कोशिश करते रहेंगे कि जल्दी से जल्दी हर माह चकमक तुम तक पहुँचने का दौर शुरू हो पाए। और जल्दी ही किसी माह पहुँच जाएँगे। यह हमारे लिए भी मुश्किल फैसला ही रहा है। पर हमें यकीन है तुम सब हमारे साथ होगे...हमेशा की तरह।

आज से कोई बत्तीस साल पहले रेक्स डी रोज़ारियो ने इस पत्रिका का सपना देखा और उसे एक बहुत ही सशक्त टीम के साथ पूरा किया। चकमक निकली। और क्या खूब निकली। उसने न सिर्फ बच्चों की पत्रकारिता को नया आयाम दिया बल्कि इस इलाके में काम करने वालों की एक बड़ी टीम खड़ी की। लगभग सूने पड़े इस क्षेत्र में एक हलचल पैदा की। चकमक के अलावा स्रोत, संदर्भ, क्यों और कैसे सरीखी कई पहलों में रेक्स का हाथ रहा। कितने ही लोग मिलेंगे जो ये बताते नहीं थकेंगे कि उन्होंने रेक्स से क्या-क्या सीखा। वे मिलते थे और आपकी सबसे पक्की मान्यता, विचार पर एक सवाल अटका जाते थे।

बीती 18 जनवरी को रेक्स भाई हमारे बीच नहीं रहे। चकमक टीम अपने इस प्रिय सम्पादक को, मित्र को, गुरू को बहुत याद करती है...और अपने पाठकों से वादा भी करती है कि चकमक की आँच बरकरार रहेगी।

अलविदा रेक्स भाई! अलविदा!

आवरण चित्र
वृषाली जोशी

हाशिए के चित्र
वृषाली जोशी

डिज़ाइन
दिलीप चिंचालकर

सम्पादन
सुशील शुक्ल
शशि सबलोक

सहायक सम्पादक
कविता तिवारी
मिताली अहीर

विज्ञान सलाहकार
सुशील जोशी

वितरण
झनक राम साहू

सहयोग
वरुण ग्रोवर
प्रभात
मिहिर
कमलेश यादव
ब्रजेश सिंह

तक्षशिला एजुकेशनल सोसाइटी के वित्तीय सहयोग से विकसित

एक प्रति :	50.00
वार्षिक :	500.00
तीन साल :	1350.00
आजीवन :	6000.00

सभी डाक खर्च हम देंगे।

चन्दा (एकलव्य के नाम से बने) मनीऑर्डर/चैक से भेज सकते हैं।
एकलव्य भोपाल के खाते में ऑनलाइन जमा करने के लिए विवरण-
बैंक का नाम व पता - स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, महावीर नगर, भोपाल
खाता नम्बर - 10107770248
IFSC कोड - SBIN0003867
कृपया खाते में राशि डालने के बाद इसकी पूरी जानकारी accounts.pitara@eklavya.in पर ज़रूर दें।

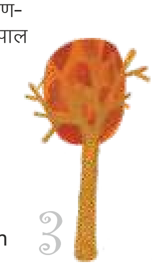

एकलव्य
ई-10, शंकर नगर, बीडीए कॉलोनी, शिवाजी नगर, भोपाल, म.प्र. 462 016, फोनः (0755) 4252927, 2550976, 2671017
फैक्सः (0755) 2551108, e mail - chakmak@eklavya.in, e mail - circulation@eklavya.in, www.chakmak.eklavya.in, www.eklavya.in

काला और मैं

चन्दन यादव

मेरी झुग्गी सड़क के किनारे दो कच्चे नालों के बीच में है। पिछले दो साल में यहाँ कई नई झुग्गियाँ बन गई हैं। काला इन नई बनी झुग्गियों में से एक में रहता है।

काला से मेरी पहली मुलाकात उस दिन हुई जब मैं सुकड़ी और बँटा के साथ मार कुटाई खेल रहा था। काला के माँ-पिता बाँस की खपच्चियों से अपनी झुग्गी की छत बना रहे थे। पास ही ज़मीन पर काला बैठा था। मैंने गेंद सुकड़ी को मारी। सुकड़ी गच्चा दे गई और गेंद धप्प से काला की पीठ पर जा लगी। काला ने पलटकर देखा। वो गुस्सा होने की बजाय मुस्करा रहा था।

मैंने पूछा, "तू खेलेगा?" काला सकुचाते हुए उठा। उस दिन वो जानबूझकर धीरे-धीरे गेंद मारता रहा। दूसरे दिन हमने फिर से मारकुटाई खेली। काला ने पूरी ताकत से ताक कर मुझे मारा। कपड़े की गेंद धप्प से मेरी पीठ पर लगी और हम दोस्त बन गए।

काला आठ साल का है। मैं दस साल का हूँ। हम रात में टीवी पर साथ-साथ पिक्चर देखते हैं। भूत की पिक्चर मुझे अच्छी लगती है। बड़े-बड़े लोग कार से उतरकर किसी हवेली में जाते हैं। जब वो डर से काँपते हैं तो ठण्ड की रातें याद आती हैं। जब हम काँपते हुए सिकुड़कर सोने की कोशिश करते हैं। या भूखे पेट सोने की कोशिश करना याद आता है।

कार वाले लोग सिर्फ भूत से डरते हैं। उनको किसी और से क्यों डर लगेगा।

एक दिन मैं काला के घर पर था। तब मैंने कहा, "मुझे भूत से डर लगता है।" काला के पापा ने सुना तो

दोनों चित्रः प्रोइती राय

बोले, "हमको तो बहुत-सी चीज़ों से डर लगता था। ठण्ड से, बरसात से, आँधी से, बीमारी से। जंगली जानवरों से भी डर लगता था। ठीक से पता ही नहीं था कि किससे डर लगना चाहिए। पता तो तब चला जब हमारी ज़मीन के नीचे कोयला निकल आया। अब तो किसी से भी डर नहीं लगता।"

काला के पिता अजीब आदमी हैं। गुमसुम रहते हैं। मुझे उनकी पूरी बात समझ नहीं आई। उनके गाँव को खाली कराकर वहाँ कोयले की खदान बना ली गई थी। शायद वे उसी के बारे में बोल रहे थे।

काला की माँ किसी से कुछ नहीं बोलती। चुपचाप रहकर घर के काम करती रहती है।

काला कहता है कि मैं बहुत बक-बक करता हूँ। ये सच नहीं है। वो अलग तरह से बात करता है। वो हाथी को "टी" बोलता है। पिता को "बा" और पानी को "डा" बोलता है। उसे अगर कहना हो "चलो" तो कहेगा "बो"। वो कई बातों के लिए एक-एक अक्षर से काम चला लेता है। काला को मेरा बोलना बक-बक तो लगेगा ही।

हम एक सरकारी स्कूल में साथ-साथ पढ़ने जाते हैं। काला को पढ़ना नहीं आता।

मैं सुबह बहुत जल्दी उठकर बीनने जाता हूँ। प्लास्टिक, लोहा, काँच की बोतल जो भी मिले, सब उठा लेता हूँ। नय साल पर और होली के समय दारू की बोतलें खूब मिलती हैं। इनसे अच्छी कमाई हो जाती है। कभी-कभी बोतलों के पास ही बचा-खुचा नमकीन भी मिल जाता है।

मैं काला से भी साथ चलने को कहता हूँ। काला के पापा ने उसे ऐसे काम के लिए मना कर रखा है। पर कितने दिन! शुरू-शुरू में सब ऐसा ही सोचते हैं।

एक दिन मैंने काला को बताया, "बाज़ार के पासवाली कॉलोनी में जो कचरे का डिब्बा है, उसमें से बहुत सारी काम की चीज़ें मिल जाती हैं। तुम बीनने क्यों नहीं चलते? क्या तुम पहले कभी भी बीनने नहीं गए?"

(शेष भाग पेज 10 पर)

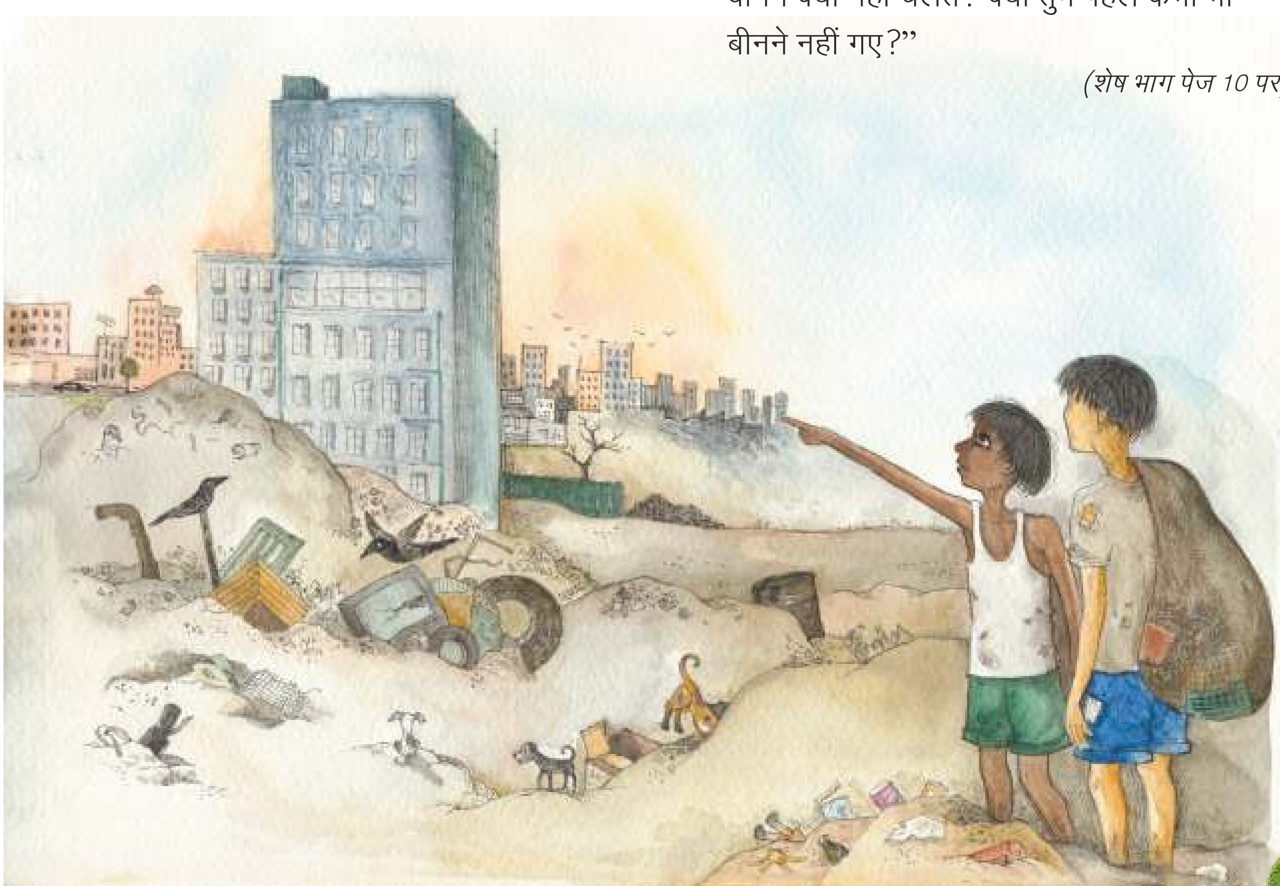

चकमक में नवम्बर 2007 से 2008 तक एक बेहद दिलचस्प कहानी छपी थी "हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़"। विनोद कुमार शुक्ल की यह कहानी बच्चों के लिए लिखी आम कहानियों से अलग है। आम कहानियों में सिलसिलेवार एक के बाद एक चीज़ होती चली जाती हैं। जैसे किसी फिल्म की कहानी को याद कीजिए। हम कहानी का पीछा करते हैं – इसके बाद क्या होगा? ऐसी कहानियाँ एक यात्रा की तरह हैं। लेकिन यह कहानी एक नृत्य की तरह है। कहीं जाना नहीं है। पर कहीं रुकना भी नहीं है। जैसे एक ही दृश्य को ज़रा थमकर देखना है और उसे झुककर, खुद को तानकर, कनखियों से, आँखें फैलाकर तरह-तरह से देखना है।

बात यह है कि हरी घास की छप्पर... का दूसरा भाग हम चकमक के इसी अंक से शुरू कर रहे हैं। पहले भाग में महराज, पहाड़, स्कूल, सब उस समय के हैं जब बोलू और कूना आठ-दस साल के रहे होंगे। इस कहानी में बोलू और कूना तुम्हें कुछ बड़े नज़र आएँगे। उनकी दुनिया थोड़ी बदली नज़र आएगी।

बोलू जब बोलता है तो चलता है। और जब रुकता है चुप हो जाता है। कोई उसे कहेगा, "बोलू, रुको।" तो वह पहले रुकेगा। और फिर चुप होगा। और अगर कोई बोलेगा, "बोलू चुप हो जाओ।" तो वह पहले चुप होगा फिर रुकेगा। हरियल या पतरंगी या ग्रीन बी ईटर नाम की एक चिड़िया की तरह है बोलू। पतरंगी जब उड़ती है तो बोलती है और बैठती है तो चुप हो जाती है। विनोद जी कहते हैं, "पतरंगी बोलकर और उड़कर दोगुना थक जाती है इसलिए दोगुना सुस्ताती है – बैठकर और चुप रहकर।" और कूना...? वह बोलू की खास दोस्त है। बोलू जब कूना के साथ तुम्हें खड़ा दिखेगा तो अकसर चुपचाप दिखेगा। वह बोलकर कहीं चले जाने से बचता दिखेगा।

तो, दूसरे भाग की यह पहली किस्त...हाँ, कहानी कैसी लगी हमें ज़रूर बताना।

एक और बात, अगर तुम हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़ पढ़ना चाहते हो इस फोन नम्बर पर सम्पर्क करो - 011- 23274463 तथा 23288769 (राजकमल प्रकाशन)

टहनी पेन्सिल...

विनोद कुमार शुक्ल

जल्दी-जल्दी पलक झपकने के कारण आँखें बन्द थीं और खुली भी।

एक दिन बोलू ने कूना से कहा, "तुम मेरे साथ चलना।"

कूना ने कहा, "तुम भी मेरा साथ देना। मेरे साथ के लिए तुम्हारा भी तो साथ चाहिए।"

बोलू ने कहा, "इसीलिए तो कह रहा हूँ। साथी होने के लिए दो कम से कम संख्या है। सभी मित्र साथ होते हैं तब बहुत अच्छा लगता है।"

कूना ने कहा, "हाँ।"

इस तरह बात करते हुए दोनों साथ थे। रुके नहीं थे। जंगल बहुत शान्त था और आगे सघन हो रहा था। दोनों ने देखा एक बूढ़े बाबा पेड़ के नीचे आँख बन्द किए ध्यान में बैठे हैं। वे जल्दी-जल्दी पलक झपक रहे थे। और इतनी जल्दी पलक झपक रहे थे कि दोनों को लगा कि उनकी आँख बन्द है। बूढ़े बाबा ने दोनों को आते देख लिया था।

उन्होंने कहा, "चुप हो जाओ। और चुपचाप मेरे पास आओ।"

दोनों चुप हो गए। चुप होने से बोलू तो रुक गया। बोलू को रुका देख कूना भी रुक गई। थोड़ी देर पहले दोनों साथ देने की बात कर रहे थे। इस साथ को बनाए रखने के लिए कूना रुकी नहीं तो वह बिना बोले अकेले बूढ़े बाबा के पास जा सकती थी।

दोनों को वहीं खड़ा देख बूढ़े बाबा ने गुस्से से कहा, "रुके क्यों? मेरा कहना नहीं माना। मेरे पास आओ।" पर बाबा के पास जाते कैसे!! और बाबा का गुस्सा बढ़ रहा था। चेहरा तमतमाने लगा। वे खड़े हो गए। उनके हाथ में लाठी थी।

कूना ने जल्दी से कहा, "बाबा, हम दोनों चुपचाप आपके पास नहीं आ सकते। बोलू जब बोलता है तो चलता है। चुप होता है तो रुक जाता है। मैं भी रुक गई। क्या हमने आपका ध्यान भंग किया?"

"बाबा आपने पेड़ों पर बैठे चिड़ियों को चहचहाने से क्यों नहीं रोका?"

बोलू, "तोते की टें टें को भी नहीं रोका। बाबा आपने हम लोगों को देखा कैसे? आपकी आँखें बन्द थीं।"

बूढ़े बाबा ने कहा, "मेरी आँखें कभी बन्द नहीं होतीं। हमेशा खुली रहती हैं। अच्छा बताओ अभी मेरी आँखें बन्द हैं या खुलीं?"

बोलू चुपचाप नहीं था। बोलकर वह बाबा के कुछ पास हो गया था। दोनों ने स्पष्ट देखा कि पलकें हिलती हैं। पर आँखें बन्द ही दिखीं।

कूना और बोलू ने कहा, "बाबा आपकी आँखें तो बन्द हैं।"

बाबा ने कहा, "तो मेरी आँखें बन्द भी, खुली भी हैं। मैं दोनों बन्द और दोनों खुली आँखों से ध्यानस्थ होता हूँ। जो मेरी खुली आँखों को देख पाता है वह केवल खुली आँख को देखता है। जो बन्द आँखों को देखता है, तो उसका देखना बन्द आँखों में अटका रहता है। मेरी आँखों को एक साथ खुली और बन्द देख पाना सबके लिए सम्भव नहीं है।"

बोलू ने कहा, "बाबा हमारा एक साथी है देखू। वह सब देख लेता है। जो देखना है उसमें दिखे की संख्या हमारे देखने की संख्या से अधिक होती है। हम किसी जगह दस चीज़ें देखते हैं तो वह कहता पन्द्रह हैं। जब हम फिर ध्यान से देखते हैं तब दस की जगह वहाँ ग्यारह देख पाते हैं। पास जाकर देखो तो उसके अनुसार हम पन्द्रह को देख पाते हैं।"

बात करते हुए दोनों बाबा के पास आ गए थे।

बाबा ने कहा, "तुम दोनों पास आ गए। अब बताओ मेरी आँखें बन्द हैं या खुलीं?"

उनकी पलकें इस तरह थीं जैसे हवा से हिल रही हों। बाबा की भौं और पलकों के बाल बड़े और सफेद थे। इतनी बड़ी पलकें और भौं दोनों ने कभी नहीं देखी थीं।

तुम चकमक के पिछले कुछ अंकों में कथाकार प्रियम्वद की लिखी कहानियाँ पढ़ रहे हो। ये सभी एकदम ताज़ा कहानियाँ हैं। तक्षशिला एजुकेशनल सोसाइटी ने इस वर्ष से बालसाहित्य लेखन के लिए बालसाहित्य सृजनपीठ शुरु की है। कथाकार प्रियम्वद और कवि-कथाकार विनोदकुमार शुक्ल को इसके तहत फैलोशिप दी गई है। इस पीठ में रहकर ये बच्चों के लिए विविध सामग्री रच रहे हैं।

विनोद जी की बोलू और कूना की लम्बी कहानी - हरे घास के छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़ - तुमने चकमक में पढ़ी होगी। इसी कहानी का दूसरा भाग इस पीठ के तहत लिखा जा रहा है। इसे तुम किताब के रूप में तो तुम पढ़ोगे ही। पर तुम्हें इसके लिए बहुत इन्तज़ार नहीं करना पड़े इसलिए बीच-बीच में हम इसके कुछ अंश चकमक में देते रहेंगे। जैसे यह अंश...

कथाकार प्रियम्वद और विनोद कुमार शुक्ल अलग-अलग शहरों में इन कहानियों को सुनाने भी आ रहे हैं। अगर तुम अपने शहर, कस्बे या गाँव में ये कहानियाँ सुनना चाहो तो हमें लिखना

- चकमक

"बाबा आपकी आँखें बन्द हैं।" कूना ने कहा।

बाबा ने कहा, "मेरे पलक झपकने में तुम दोनों मेरी खुली आँख देख नहीं पाते। देखू को साथ लाना। मैं देखूँगा कि वह मेरी खुली आँख को देख पाता है या नहीं। पर यह सच है कि मेरी आँखें खुली हैं और बन्द भी। मेरी आँखों को खुली और बन्द देख पाना असम्भव भी है और सम्भव भी। मेरी दो आँखें हैं। देखू देखेगा तो उसे चार आँखें, दो खुली, दो बन्द नहीं दिखेंगी। दिखेंगी, जितनी हैं। अब तुम चुपचाप चले जाओ।"

कूना ने कहा, "बाबा, चुपचाप कैसे जाएँ! बोलू बिना बोले लौट नहीं सकेगा। वह खड़ा रहेगा। मैं भी खड़ी रहूँगी। पर बाबा आप पक्षियों को चुप क्यों नहीं कराते?"

बाबा ने कहा, "पक्षियों के बोलने से मेरा ध्यान भंग नहीं होता। मनुष्यों के बोलने से भंग होता है। चिड़ियों का चहचहाना अच्छा लगता है। तोते के टें टें कर्कश नहीं। पर मनुष्य का बोलना, सुनना कभी-कभी अच्छा नहीं लगता। ध्यानस्थ हो रहा हूँ। चुपचाप जाना।"

वे ध्यानस्थ हो गए। कूना ने देखा और बोलू ने भी कि बूढ़े बाबा की पलकें उसी तरह हिल रही हैं। पर अब उनके होंठ भी फड़फड़ाते दिख रहे थे जैसे कुछ कह रहे हों और चुप हों।

चिड़ियों की आवाज़ें थीं। बोलू ने चिड़ियों जैसी चहचहाहट की। और वह चल पड़ा। जाते हुए उसने तोते की तरह टें टें भी की। दोनों चले गए।

बाबूलाल होटल जब नहीं दिखे
तो बन्द है।
जब दिखे तो खुली है।

कुछ बदल गया था। कुछ नहीं बदला। यह ऐसा था कि बहुत दिन एक दिन की तरह बीत गया। बहुत दिन तक एक दिन जैसा रहता है कि वे ही दिन चल रहे हैं।

बजरंग महराज की होटल के पहले एक होटल और खुल गई थी। पर ऐसा लग रहा था कि यह होटल भी शुरू से है। इस होटल का नाम बाबूलाल होटल था। यह होटल, लोग कहते हैं बहुत पहले भी थी। पर यह होटल कभी होती थी और कभी नहीं होती थी। पर यह भी कहते हैं कि होटल बन्द नहीं होती थी। हाँ! कभी दिखाई देती, कभी दिखाई नहीं

चित्र : अतनु राय

देती। जब दिखाई नहीं देती तब इस होटल के बारे में पूछो तो लोग कहते कि बन्द है। कब खुलेगी पूछो तो कहते जब दिखेगी तब खुलेगी। यह होटल बार-बार दिखती। और बार-बार नहीं दिखती। कई बार होटल ग्राहक समेत दिखाई देती। उन ग्राहकों को स्थायी ग्राहक कहा जा सकता था। ये यहीं के लोग थे। इनके घर यहीं थे। जब होटल खुलती तब ये अपने घर से आते-जाते दिखाई देते। होटल के बन्द होने पर इनके घर भी नहीं दिखाई देते थे। इस तरह बाबूलाल होटल के ग्राहकों का रहन-सहन था। दिनचर्या भी कह लें। बहुत दिनों तक दिखना भी इनकी दिनचर्या होती और नहीं दिखना भी।

बाबूलाल होटल के दिखते ही उसके आस-पास का प्राकृतिक दृश्य बदल जाता। तब इधर-उधर खरगोश बहुत दिखने लगते। आकाश साफ हो जाता। मौसम सुहाना हो जाता। पहाड़ पहले से समीप और अधिक दिखाई देने लगते। शायद वातावरण में उजाले के कारण पारदर्शिता बढ़ जाती। बौने-बौने पहाड़ इतने

बाबूलाल महराज के दो दाँत खरगोश की तरह बड़े थे। कान भी कुछ बड़े थे। मूँछेंभी बड़ी थीं। पर मूछों में गिनती के बाल थे।

पास हो जाते कि बच्चे सड़क के उस ओर जाने के लिए सीधे उस पार नहीं जाते। पहाड़ के उस पार से जाना पसन्द करते। स्कूल में चहल-पहल बढ़ जाती और लगता परीक्षा का समय आ गया है। बच्चे परीक्षा का रास्ता त्यौहार की तरह देखते। और परीक्षा के दिनों को त्यौहार की तरह मनाते। जब बाबूलाल होटल दिखाई देती तब होटल के आस-पास बच्चे भी दिखाई देते। होटल एक गोलाकार मैदान ही था। इस मैदान की सीमा बड़ी-बड़ी गोल चट्टानों से थी कि ये मैदान की ढलान से लुढ़कते-लुढ़कते समतल जगह ठहर गए। चारों तरफ गोल चट्टानों को देखकर लगता था जैसे इनको चारों तरफ फैले बौने पहाड़ों ने फुटबॉल का मैदान बना लिया था। और अपनी चट्टानें लुढ़काकर गोल मारने का खेल करता रहा। इन चट्टानों को पड़े हुए देखकर लगता था कि ये स्थायी गोल हैं। और इस गोल को जब जो देखना चाहे आकर देख ले।

होटल के नाम से केवल बाईं तरफ एक दीवाल कुछ दूरी तक दस-बारह फुट की ऊँचाई तक बनी थी। इस दीवाल में दो पल्लों के बदले केवल एक पल्ला दरवाज़े की तरह लगा था। यह एक विशाल पल्ला था। एक तेंदू के पेड़ से आकर यह पल्ला लग जाता। पल्ले में एक साँकल थी। यह साँकल पेड़ की एक शाखा से अटका दी जाती। और यह मान लिया जाता कि होटल बन्द है। इस बन्द पल्ले की आड़ में बाबूलाल महराज की टेबिल-कुर्सी होती। पल्ले के बन्द होने से जो नहीं दिखती थी। तब बाबूलाल महराज प्रायः वहाँ नहीं होते। जब होते तब पल्ला खुला होता। होटल में इधर-उधर आठ-दस लोहे की बड़ी-बड़ी टेबिलें रखी थीं। टेबिलें चौकोर थीं। इनको देखो तो सर्कस की उस रिंग की याद आती जहाँ हाथी का करतब दिखाने के पहले या शेर का करतब दिखाने के पहले ऐसी ही टेबिलें रख दी जातीं।

बाबूलाल महराज के दो दाँत खरगोश की तरह बड़े थे। कान भी कुछ बड़े थे। मूँछें भी बड़ी थीं। पर मूछों में गिनती के बाल थे।

होटल खुलती तो घण्टी बजा दी जाती। इस घण्टी की आवाज़ बहुत धीमी थी और बिलकुल पास की दूरी तक जाती। लेकिन पता नहीं कैसे बाबूलाल होटल खुलती तो स्कूल में खबर फैल जाती। स्कूल की घण्टी की आवाज़ तो बाबूलाल होटल तक आती थी। पर होटल की घण्टी की आवाज़ होटल के दरवाज़े के बाहर अधिक नहीं जाती थी।

बाबूलाल महराज चाबी के गुच्छे में पेंसिल छीलने की एक छोटी सी चाकू होती। इस चाकू में बहुत धार थी। मुड़ी बंद चाकू जब खोलते तो उजाले में भी एक चिंगारी दिखाई देती।

होटल खुलने की बात का पता चलता जब एक पल्ले वाला दरवाज़ा खुला हुआ किसी को दिख जाता। जो देखता वही बताता जाता कि दरवाज़ा खुल गया, दरवाज़ा खुल गया।

बोलू और बोलू के साथी पहले से कुछ बड़े हो गए थे। इस बड़े हो गए का समय उतना ही बीता था कि जब किसी दिन खड़े हुए तो लगा कि पहले से लम्बे हो गए — बस इतना ही। पर अपने लम्बे होने का पता खुद को नहीं चलता। दूसरा देखकर बताता। ठहरा हुआ समय भी चलता है। कोई दूसरा बताता है कि समय ठहरा नहीं।

लड़कों को मालूम था कि पेंसिल छीलने का एक चाकू बाबूलाल महराज के पास है। उन दिनों बहुत कम बच्चों के पास पेंसिल होती थी। कोई बच्चा पेंसिल छिलवाने आता तो बाबूलाल महराज चाबी का गुच्छा निकालते। चाबी के गुच्छे में पेंसिल छीलने की एक छोटी-सी चाकू होती। इस चाकू में बहुत धार थी। मुड़ी बन्द चाकू जब खोलते तो उजाले में भी एक चिंगारी दिखाई देती। वे पेंसिल अच्छे से छीलते और पेंसिल की नोक टूटती नहीं थी। छोटी-सी छोटी पेंसिल वे छील सकते थे। मिटाने की रबर घिसते-घिसते छोटी हो जाती या टूट जाती उसे भी बाबूलाल महराज के पास लाते और कहते रबर छोटी हो गई इसे बड़ा कर दो।

बाबूलाल महराज रबर के टुकड़े को लेते और होटल के किसी कर्मचारी को देते। वह लालटेन में जहाँ मिट्टी तेल डालते हैं उसमें रबर डालकर ढक्कन लगा देता।

बाबूलाल महराज बच्चे से कहते कल आना और बड़ी रबर ले जाना। मिट्टी तेल में रबर रातभर में फूलकर बड़ी और मोटी हो जाती। फिर बड़ी सुई को लालटेन के ढक्कन को खोलकर रबर में गड़ाते और उसे निकाल लेते। बड़ी रबर अधिक बड़ी हो जाती तो लालटेन की छेद से मुश्किल से निकलती।

बच्चों की बहुत से पेंसिलें जिन्हें वे तत्काल छील नहीं पाते, इकट्ठी हो जातीं। वे छीलते दिखते चाहे दिन का समय हो चाहे रात का। रात के समय पेंसिल छीलने की आवाज़ कीड़ों की आवाज़ में मिल जाती।

काला और मैं

(पेज 5 का शेष भाग)

काला पास की एक इमारत को देखते हुए बोला, "मैं महुआ बीनने जाता था।" कहकर काला चुप हो गया। इतना चुप कि मैं कुछ कहता तो उसके कान तक शायद ही पहुँचता। हम एक-दूसरे की तरफ देखते हुए चुपचाप खड़े रहे। आसपास से चीं चीं पों पों करती हुई गाड़ियाँ गुज़रती रहीं।

मैं सोचता रहता हूँ काला मेरे जैसा क्यों नहीं है?

मेरे पिताजी बताते हैं कि वो भी मेरे दादा के साथ किसी गाँव से उजड़कर यहाँ आए थे। वहाँ हरा-भरा जंगल था। चारों तरफ चारौली, सागौन, आम, जामुन और महुआ के पेड़ थे। गाँव में मेरे दादा भी हमारे साथ रहते थे। अब तो उनको मरे बहुत दिन हो गए हैं। जब तक दादा ज़िन्दा थे, वो भी महुआ बीनने जाते थे।

काला मेरे दादा जैसा है।

बोलीरंगोली

वक्त काटना क्या मुश्किल है?
एक घण्टे को आधा करके,
उसको फिर से आधा कर लो तो...
पन्द्रह मिनट हैं।
पन्द्रह मिनट को तीन हिस्सों में काटो
पाँच मिनट के तीन हिस्से बचते हैं...
पाँच के काटो तीन और दो
दो के फिर दो...
एक बचेगा
वक्त काटना क्या मुश्किल है?

गुलज़ार

मन्शा राघव, बारहवीं,
सनसिटी स्कूल, गुड़गाँव

गुलज़ार साब की इस कविता पर तुम्हारे सैकड़ों चित्र मिले।
गुलज़ार साब के पसन्दीदा चित्र यहाँ पेश हैं।
इन्हें भेजने वाले चित्रकारों को उपहार में चकमक डायरी अथवा किताबें भेजी जा रही हैं।

आशिकी मीहू, सातवीं,
दिबाँग यूथ लाइब्रेरी,
अरुणाचल प्रदेश

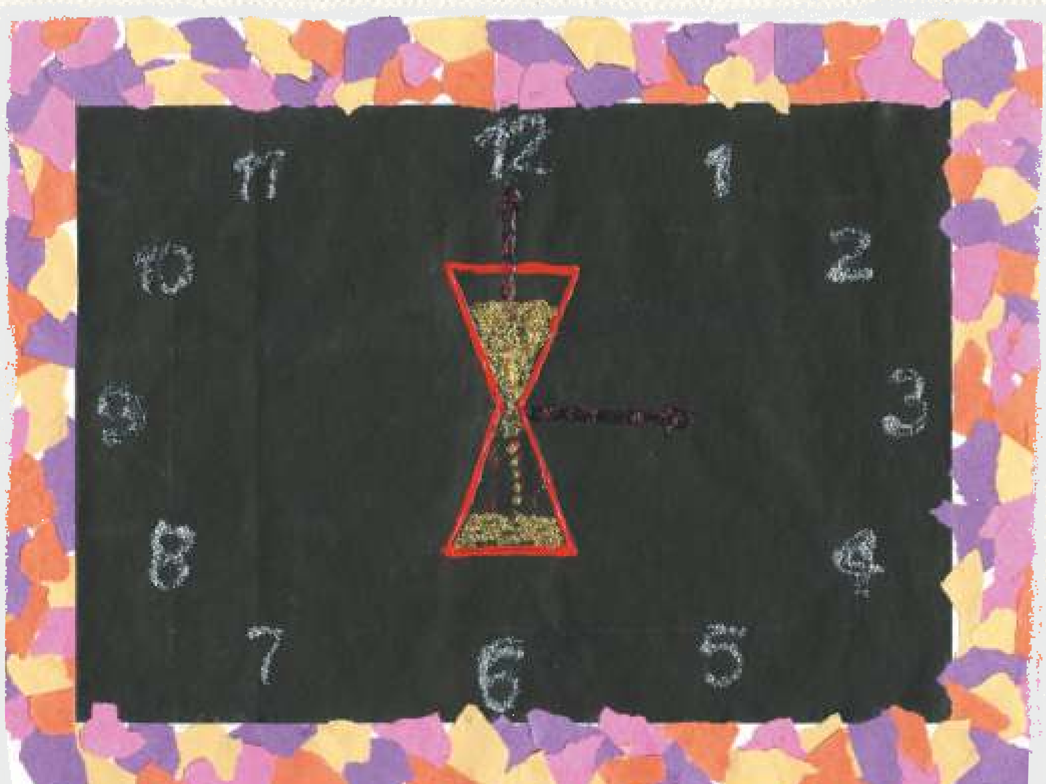

श्रेया सिंगला, पाँचवीं,
डीपीएस लुधियाना

बोलीरंगोली

अप्रैल-मई की कविता सुनो -

सन्डे तो होता है न रेस्ट का दिन

बोर कोई आ जाए तो गेस्ट का दिन

- गुलज़ार

तुम्हारा पाला पड़ा है किसी बोर आदमी से?

अपने अनुभव हमें 100 शब्दों में लिख भेज दो।

चुनिन्दा अनुभव चकमक के अगले अंक में छपेंगे!

बी.वर्षा, सातवीं,
डीपीएस कोयम्बतूर

धनलक्ष्मी, छठी,
एपीएफ स्कूल धमतरी

बोलीरंगोली

आरूष मिश्रा, चौथी,
डीपीएस पुणे

इशिका बजाज, छठी,
डीपीएस सूरत

प्रकृति कुमारी, तीसरी,
बिहार बाल भवन किलकारी, पटना

जाहन्वी कड़ा, चौथी,
सेंट ज़ेवियर स्कूल,
भोपाल

पूर्णिमा वी, आठवीं
डीपीएस कोयम्बतूर

उस्मान, पाँचवीं, डीपीएस पटना

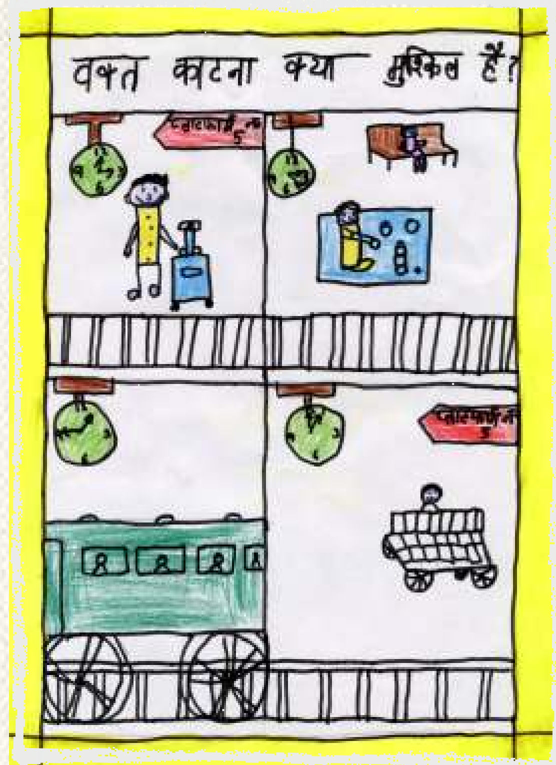

हो सकता है बड़े तुम्हें इसके अर्थ बताएँ। उनके अर्थ सुनो-समझो पर चित्र अपने मन का ही बनाओ...। कोशिश करना कि तुम्हारा चित्र हमें 15 अप्रैल 2017 तक मिल जाएँ। चित्र के साथ अपना पता, कक्षा, फोन नम्बर ज़रूर लिखना। पता है -

चकमक, एकलव्य,
ई-10, शंकर नगर,
शिवाजी नगर, भोपाल -16 (फोन - 09425010115)
चाहो तो ईमेल कर दो chakmak@eklavya.in

निहारिका, छठी,
विश्वास स्कूल गुड़गाँव

पार्थ यादव, नौ साल,
आनन्द निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल, भोपाल

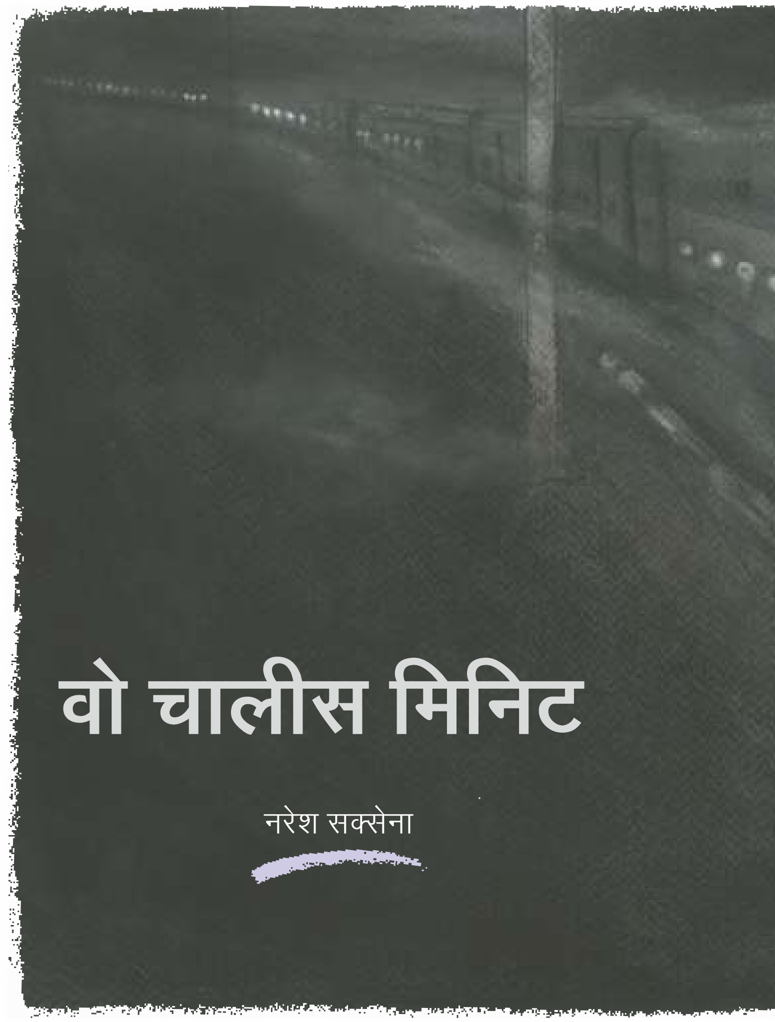

वो चालीस मिनिट

नरेश सक्सेना

दिल्ली से लखनऊ जाना था। लखनऊ जाने वाली यह ट्रेन दिन के दो बजे मैंने छूटते-छूटते पकड़ी थी। (छूट जाती तो कितना अच्छा होता!)। मैं सुबह का सिर्फ चाय पिए था। भूखा था। जब बहुत देर तक न कोई चायवाला, न खाने का सामान बेचनेवाला आया, न कोई स्टेशन तो पता चला यह कोई सुपर फास्ट स्पेशल ट्रेन है – इसमें पैंट्री कार नहीं है और यह बहुत स्टेशनों पर रुकती भी नहीं है।

जब यह ट्रेन हरदोई स्टेशन पर रुकी तो मैं इस उम्मीद में उतरा कि प्लेटफॉर्म पर चाय-समोसा मिल जाएगा। लेकिन प्लेटफॉर्म पर सन्नाटा था। सर्दियों के दिन थे। रात के कोई ग्यारह बज रहे होंगे। भूख ने मुझे कड़कती ठण्ड में बाहर कुछ खाने की जुगाड़ करने पर मजबूर कर दिया था। ट्रेन से बाहर कोहरे के कारण कुछ भी साफ दिखाई नहीं दे रहा था। मैं हर गुमटी और खम्बे की तरफ दौड़ता कि शायद वहाँ कुछ मिले लेकिन कहीं कुछ नहीं था। मैं इस दौड़-भाग में ही था कि लगा जैसे ट्रेन चल पड़ी है। मुझे रोशनी के धब्बे सरकते दिखाई दे रहे थे। ट्रेन चल दी थी, बिना सीटी दिए।

मैं अपने कोच की तरफ दौड़ा। उसके दोनों दरवाज़े बन्द हो चुके थे। उसके पीछे भी ए.सी कोच थे। जब उनके दरवाज़े भी बन्द मिले तो लगा ट्रेन छूट जाएगी। एक झटके में जाने कैसे मुझसे यह हो गया। मैंने फुर्ती से कूदकर ट्रेन के दरवाज़े के ठीक नीचे बने पायदान पर अपने पैर टिका दिए। अगले ही पल मुझे अपनी गलती समझ में आई। लेकिन अब क्या हो सकता था। ट्रेन रफ्तार पकड़ चुकी थी। कोई सौ-सवा सौ किलोमीटर प्रति घण्टा। भीतर होता तो यह रफ्तार मुझे भली लगती। इस रफ्तार से ठीक समय पर पहुँचने की खुशी होती। पर जहाँ मैं खड़ा था। कड़कती ठण्ड में। कोहरे के बीच। ट्रेन की यही रफ्तार मेरी दुश्मन हो रही थी। शुरू-शुरू में तेज़ ठण्ड से मुझे चार-पाँच छींकें आईं। नाक और आँखों से पानी बहने लगा और साँस फूलनी शुरू हो गई। मेरे चेहरे पर कोहरा यानी धूल, धुएँ और ओस के की मोटी परत चढ़ चुकी थी। नाक और आँखों से पानी बह रहा था। पानी मेरे गालों, गर्दन और सीने से बहता हुआ पैर तक पहुँच रहा था।

मेरी साँस फूल रही थी, मैं ऐलर्जिक अस्थमा का मरीज़ हूँ। ठण्ड से पाँव जैसे लकड़ी के हो गए थे। जिन मुट्ठियों से हैंडिल थामे था उसकी उँगलियाँ भी जकड़ गई थीं। लगता था कि अब गिरा कि तब गिरा। धीरे-धीरे मैंने महसूस किया कि हाथ-पाँव सुन्न हो रहे हैं। पाँव सुन्न हो गए तो ज़्यादा देर इस पायदान पर टिके रहना असम्भव हो जाएगा। यही सोचकर मैंने एक पाँव को पायदान पर पटका। पायदान से टकराया पाँव तार की तरह झनझना उठा। मैंने बारी-बारी दोनों पाँव पटकने शुरू किए ताकि इनमें खून दौड़ता रहे और ये लकड़ी न हो जाएँ। सर्दी और कोहरे की वजह से हैंडिल

भी गीला होता जा रहा था। उसे थामे रखना मेरे लिए हर पल मुश्किल होता जा रहा था। लगता था कि किसी भी क्षण मेरे हाथ हैंडिल से फिसल जाएँगे। ट्रेन सिर्फ आगे ही नहीं दौड़ती थी। वह दाएँ-बाएँ हिचकोले भी लेती जाती। मुझे अब यह लगना शुरू हो गया था कि आज मैं किसी खम्बे या सिग्नल से टकराकर या हाथ-पाँव सुन्न होने की वजह से गिरकर

चित्र : हबीब अली

मर जाऊँगा। जब भी गाड़ी किसी पुल या खाई या नाले के ऊपर से गुज़रती तो भयानक आवाज़ें सुनाई देतीं। रोम-रोम थर्रा जाता। गाड़ी के भीतर ये आवाज़ें कितनी अलग लगती हैं। हम नदी को, तालाबों, पोखरों को निहारने लगते हैं। पर आज मैं इस सर्दीली रात में ट्रेन के बाहर से यह सब देख रहा था।

जब-जब गाड़ी बाएँ घूमती तो एक धक्का मुझे बाहर की तरफ फेंकता। ट्रेन की एक-एक हरकत मुझे मौत के थोड़ा और करीब ले जाती लग रही थी। ट्रेन की गति से लगता कि जैसे वह मुझे मौत की तरफ तेज़ी से लिए जा रही है। पर मेरे पास उसकी रफ्तार से रफ्तार मिलाकर उसका साथ देने के अलावा कोई रास्ता नहीं था। मेरे अपने शहर लखनऊ की तरफ बढ़ता हुआ मैं मौत की तरफ बढ़ रहा था।

जगह बदलते ही चीज़ें किस तरह बदल जाती हैं। डिब्बे के भीतर यानी मुझसे तीन-चार इंच की दूरी पर हवा गुनगुनी थी, बिस्तर था, कम्बल था और बाहर मैं सिर्फ पजामा-कुर्ता पहने फुटबोर्ड पर ठण्ड से सिहर रहा था। सिर्फ चार इंच की दूरी ने जीवन को मौत की ओर धकेल दिया था। लेकिन ये चार इंच पार करना असम्भव था। मैं कई बार चिल्लाया लेकिन मेरी चीख सुननेवाला कोई नहीं था। बाहर छूटना क्या होता है उस दिन मुझे मालूम पड़ रहा था। जो बाहर छूट जाते हैं वे बेमौत मर जाते हैं।

तभी ट्रेन के भीतर एक व्यक्ति दिखा। वह वॉश बेसिन पर आया था। मैं पूरी ताकत से चिल्लाया। शायद उस तक मेरी आवाज़ पहुँच जाए। वह सुन ले। और दरवाज़ा खोल दे। जब मुझे लगा कि मेरी आवाज़ उस तक नहीं पहुँच रही है तो मन में ख्याल आया कि शायद दरवाज़ा ठोंकने से फायदा होगा। पर दरवाज़ा ठोंकूँ कैसे। मेरे तो दोनों हाथ हैंडिल को जकड़े हैं। दोनों हाथ मिलकर किसी तरह से मुझे सँभाल रहे थे। लगता था कि पकड़ ज़रा भी कम हुई तो मैं नीचे गिर जाऊँगा। तो अब क्या करूँ। मुझे तुरत फैसला लेना था। इससे पहले कि वह व्यक्ति बॉश बेसिन से अपनी बर्थ पर चला जाए। मैंने सिर से ही दरवाज़े के शीशे पर दस्तक दी। पर यह दस्तक भी नाकाफी ही साबित हुई। उस तक मेरी आवाज़ नहीं पहुँची। वह तौलिए से मुँह पोंछता हुआ लौट गया। मैं शीशे पर सिर पटकता रह गया। थोड़ी देर बाद एक गर्म धार माथे से गालों पर बहना शुरू हुई। सिर दरवाज़े पर टकराने से खून की एक धार मेरे माथे से बह निकली थी। मेरे माथे पर इस यात्रा का यह निशान आज भी है। कैसी स्थिति थी कि मैं इस धार को पोंछ भी नहीं सकता था।

मुझे लगा इससे पहले कि हैंडिल मेरे हाथों से छूटें मुझे

किसी झाड़ी पर कूद जाना चाहिए। लेकिन गाड़ी की रफ्तार इतनी तेज़ थी कि जब तक मैं कूदने को तैयार होऊँ, गाड़ी निकल जाती। अँधेरे में कुछ साफ दिख नहीं रहा था। कोहरे की मोटी परत चश्मे पर चढ़ी थी। सोचा, किसी स्टेशन पर कूदूँ हाथ-पाँव सिर टूट जाए लेकिन लाश तो घरवालों को मिल जाएगी। कहीं सुनसान में नदी-नाले में गिरा तो जानवर और चील कौवे खा जाएँगे। कोई जान ही नहीं पाएगा कि मैं अचानक कहाँ गायब हो गया।

तभी याद आया कि मेरा बेटा राघव स्टेशन पर मुझे लेने आया होगा और यह भी कि हरदोई से चले अब 15-20 मिनिट हो चुके होंगे और लखनऊ की रोशनियाँ दिखने लगेंगी, बस्ती शुरू हो जाएगी, हवा भी कुछ गर्म होगी – यानी अगर मैं बीस मिनिट काट लूँ तो बच भी सकता हूँ।

बीस मिनिट यानी बारह सौ सेकेंड। मैंने गिनना शुरू किया। याद कीं बचपन में पढ़ी साहस और संघर्ष की कथाएँ जिनमें विकट परिस्थितियों में फँसकर भी कोई नाविक कोई पायलट या कोई और धीरज और साहस से मौत के मुँह से बच गया था। याद किया ईवान्स को जो कई रातों और दिनों तक बर्फ पर फिसलता रहा था। उसके हाथों और पाँवों की उँगलियाँ गल गई थीं। लेकिन वह बर्फ के तूफान में अकेला घिरकर भी बच गया था।

छोटे-छोटे स्टेशन और गुमठियाँ गुज़र रही थीं – कोहरे और अँधकार के पर्दे के पीछे छुपी कोई भुतही आकृति हरी लालटेन हिलाती दिखी। तभी बगल से एक इंजन गुज़रा। उसने पलभर को मुझे गर्मी का एक भभका दिया। यह एक दोस्त इंजन की तरह था, मेरी गाड़ी का इंजन तो दुश्मन इंजन की तरह था। उसकी गति ही मेरी दुर्गति का कारण थी। फिर एक रेलगाड़ी खड़ी मिली। उसके इंजन ने भी कुछ राहत दी। यह रेलगाड़ी शायद हमारी गाड़ी को पास देने के लिए ही रुकी थी। बड़े लोग बड़े शहरों में रहते हैं। उनकी गाड़ियाँ छोटे स्टेशनों पर नहीं रुकतीं।

अचानक आकाश में एक लाल सितारा चमका धीरे-धीरे बड़ा होता हुआ। चीं-चीं की आवाज़ भी सुनाई दी। रफ्तार कम हो रही थी। गाड़ी रुक गई। शायद उससे भी बड़ी हैसियत की गाड़ी उसके रास्ते में आ गई थी। मैं कूदा। कूदते ही ज़मीन पर गिर गया। गिरकर आराम से पड़ा रहा। हाथ-पाँव सुन्न थे। अब गाड़ी जाए तो जाए। थोड़ी देर बाद दो रेल कर्मचारी लोहे के सरिए से पहियों-पटरियों को बजाते और टॉर्च चमकाते मेरी तरफ आए और रुक गए। उन्हें लगा शायद मैं गिरकर मर गया हूँ। वे मेरे चेहरे पर टॉर्च की रोशनी डाल रहे थे – लेकिन उसकी रोशनी कमज़ोर थी। मैं बोला, "डरो नहीं भाई मैं ज़िन्दा हूँ।" तब वे आगे बढ़े और मुझे उठाकर मेरे डिब्बे में पहुँचाया। लखनऊ की रोशनियाँ दिखने लगी थीं। जैसे वे जीवन की रोशनियाँ हों।

मुझे याद आया कि संकट की उन घड़ियों में मैंने एक बार भी ईश्वर को याद नहीं किया। मैंने संघर्ष करते हुए नायकों को याद किया। मुझे ईवान्स ने बचाया। मुझे साहस की कथाओं ने बचाया। मुझे गिनती, पहाड़ों ने बचाया। धीरज ने, साहस ने।

हवा पर
पानी पर
मिट्टी पर
रंग पर
आकाश पर
आरी किसी पर नहीं चलती।

वह पेड़ पर चलती है
और कटकर गिर जाते हैं
हवा
पानी
मिट्टी
रंग और
आकाश...

कविताः सुशील शुक्ल
चित्रः तापोषी घोषाल

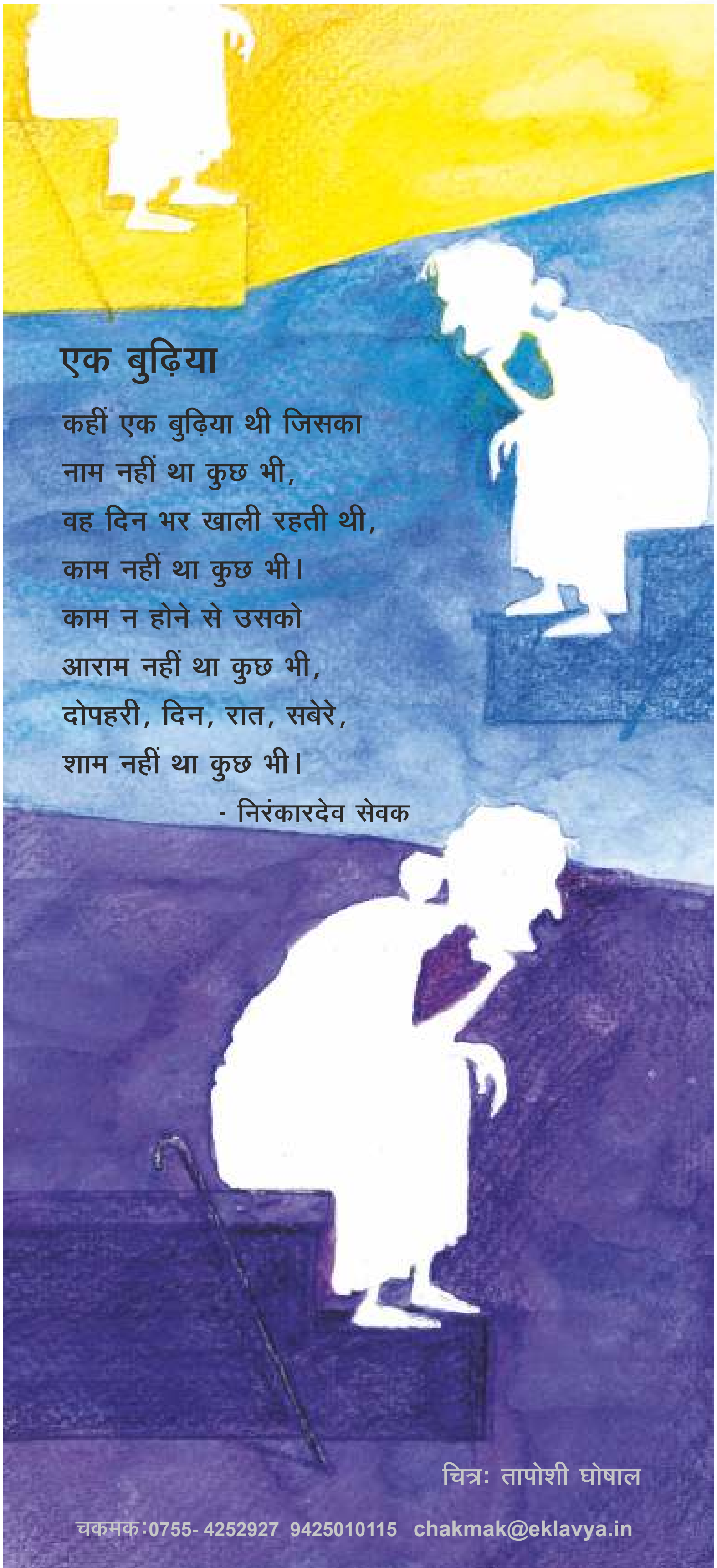

एक बुढ़िया

कहीं एक बुढ़िया थी जिसका
नाम नहीं था कुछ भी,
वह दिन भर खाली रहती थी,
काम नहीं था कुछ भी।
काम न होने से उसको
आराम नहीं था कुछ भी,
दोपहरी, दिन, रात, सबेरे,
शाम नहीं था कुछ भी।

- निरंकारदेव सेवक

चित्रः तापोशी घोषाल

चकमक:0755- 4252927 9425010115 chakmak@eklavya.in

पुस्तक अंश

बुढ़िया

एक बुढ़िया बिलकुल अकेली रहती थी और हमेशा उदास होती थी।

उसका कोई बच्चा-वच्चा नहीं था, और जितने भी इन्सान, जिन्हें वह प्यार करती थी, मर चुके थे। पूरा दिन वह अपने कमरे की खिड़की पर बैठकर बाहर देखती रहती थी। "हाय", अकसर वह सोचती थी, "काश मैं पक्षी होती और उड़ सकती।"

फ्रांत्स होलर और
निकोलाउस हाइडलबाख

मूल जर्मन से अनुवाद -
अमृत मेहता

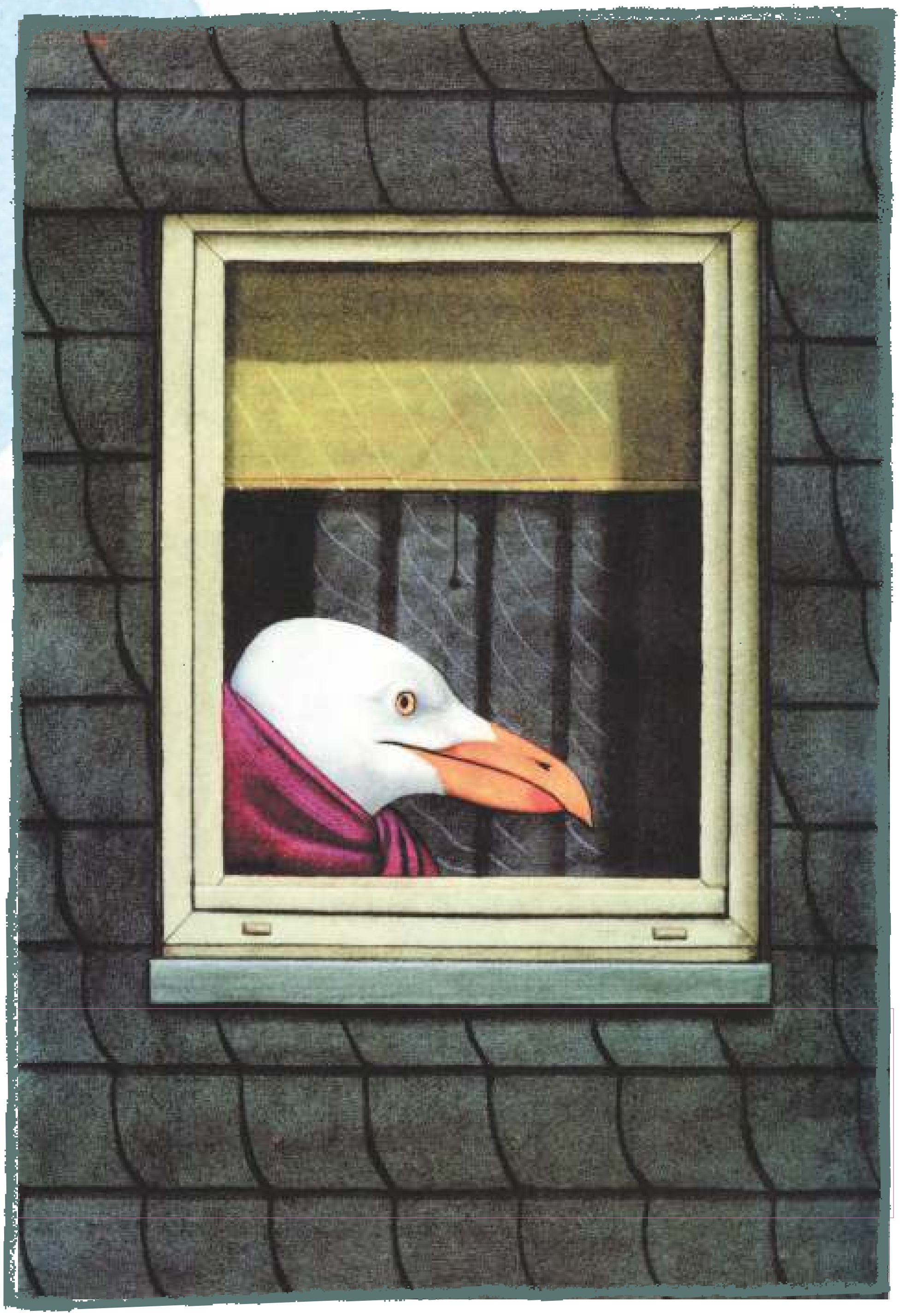

एक दिन उसके खिड़की खोलने पर जब सूरज की किरणें भीतर आईं और बाहर पंछी चहचहाने लगे तो उसने फिर सोचा, "काश मैं पक्षी होती और उड़ सकती।" और अचानक वह बुढ़िया रही नहीं, बल्कि एक खूबसूरत, सफेद समुद्रचिल्ली बन गई थी। जो अपनी खिड़की के फलक से हवा में उठ गई। वह पूरे शहर के ऊपर उड़ती रही। उसने झील के ऊपर एक लम्बा चक्कर लगाया। कई चर्चों की मीनार के ऊपर बैठी। पुलों की रेलिंगों पर बैठी और चें-चें करते हुए डबल रोटी के वे टुकड़े उसने खुश होकर उठाए, जो दादियाँ-नानियाँ और उनके नाती-पोते झील किनारे पर उसकी तरफ फेंक रहे थे। थककर वह शाम को पंख फड़फड़ाते हुए घर लौटी। खिड़की में घुसकर, फुदककर अपनी कुर्सी पर बैठ गई और वह बुढ़िया बन गई, जो वह सुबह के समय थी।

"कितना खूबसूरत था यह सब," उसने सोचा। और अगले दिन उसने फिर खिड़की खोली, और समुद्रचिल्ली बनकर फलक से उड़ गई। और यह वह हर दिन तब तक करती रही, जब तक कि वह एक दिन इतनी ऊँची और दूर नहीं उड़ गई कि फिर वापस ही नहीं आई।

मेरी बड़ी किताब, वाणी प्रकाशन से साभार

स्कूल का पहला दिन

आयुषी

रोज़ दीदी का साइकिल पर स्कूल जाना और रोज़ पाँच रुपए का बिस्कुट खाना, मुझे उदास कर देता था। मैं चार साल की थी, पर दीदी के दिए एक बिस्कुट और एक चम्मच चाट से मेरा मन कहाँ भरनेवाला था! इसलिए, मम्मी मुझे दीदी के आने से पहले खिला देती। आज मैंने ठान रखा था कि मुझे भी स्कूल जाना है।

मैंने रोते हुए मम्मी से कहा कि मुझे भी स्कूल जाना है। मम्मी ने मना किया तो मैं और तेज़ रोने लगी। मम्मी ने गुस्से में कहा, "चल, आज तेरा भी नाम लिखवाती हूँ।" मम्मी ने मुझे स्कूल ले जाने के लिए तैयार कर दिया। मैं बहुत खुश थी।

हम स्कूल गए। वहाँ तरह-तरह के फूल थे। रंग-बिरंगे खूबसूरत फूल। मैंने मन ही मन कहा, "अरे वाह, यहाँ तो फूल भी हैं। मज़ा आएगा।" मम्मी मुझे एक कमरे मे लेकर गईं। वहाँ बिना पंखे के भी ठण्डी हवा आ रही थी। सुनहरे रंग की माला और जग भी रखे थे।

मैंने मम्मी से उस जग का नाम पूछा तो मम्मी ने "ट्रॉफी" बताया। मैंने सोचा कि इस ट्रॉफी में बहुत सारी टॉफियाँ होंगी, जो बच्चों को घर जाते वक्त मिलती होंगी। मम्मी ने सर से कहा कि मुझे मेरी बेटी का एल.के.जी. में नाम लिखवाना है। सर ने मुझे पाँच मिनट तक एकटक देखा और बोले, "इसे कुछ आता है?" मम्मी ने कहा, "हाँ आता है, आयुषी सुनाओ जो तुम्हें आता है।"

मैंने कहा कि सुना तो दूँगी पर मुझे पहले टॉफी दो। मम्मी ने डाँटते हुए कहा, "चुप, जो आता है वह सुना दो।" मैंने मन में सोचा कि जाते समय इस जग में से चॉकलेट वाली टॉफी मिलेंगी। इसीलिए मैंने सुनाना शुरू कर दिया .... अ-आ.. इ-ई.. उ-ऊ.. फिर मैं गिनती सुनाने लगी... एक-दो-तीन-चार-फाइव-सिक्स-सेवेन-एट-नाइन-टेन। बस फिर, सर ने मम्मी को एक बड़ा-सा कागज़ दिया और कहा कि यह फॉर्म भरकर ले आना, नाम लिखा जाएगा।

मैं शाम को सो कर उठी और आँख मसलने लगी। तभी मम्मी ने कहा, "आयुषी बाज़ार चल, तेरी ड्रेस लेनी है।" हम बाज़ार गए वहाँ तरह-तरह के कपड़े थे। सब लोग कपड़ों पर ऐसे झपट रहे थे जैसे फ्री में मिल रहे हों। मम्मी बार-बार मुझ से कपड़े सटाकर देख रही थी। पर मेरी नज़र तो परीवाली एक सुन्दर फ्रॉक पर थी। अंकल ने कहा, "इसके साइज़ के कपड़े शुक्रवार को आएँगे।"

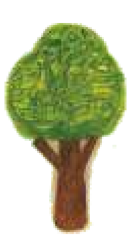

यह सुनकर हम पूरे बाज़ार में घूमे। लेकिन सबने यही कहा कि शुक्रवार को आएँगे। हम वापस घर आ रहे थे, तभी मेरी नज़र एक झूले पर पड़ी। मैंने मम्मी से कहा, "मम्मी मुझे यह झूला चाहिए।" मुझे डाँटते हुए मम्मी ने कहा, "नहीं मिलेगा।" मैं रोने लगी। मम्मी ने दुकानवाले अंकल से पूछा, "यह कितने रुपए का है?" उन्होंने कहा, "250 रुपए।" मम्मी ने मुझसे कहा, "तू घर चल, मैं तुझे बोलनेवाली गुड़िया लाकर दूँगी।" हम घर आ गए।

अगले दिन मम्मी अकेली बाज़ार गईं और मेरी ड्रेस ले आईं। अगली सुबह मम्मी मुझे स्कूल जाने के लिए तैयार करके भइया से बोलीं कि आयुषी को साइकिल से स्कूल छोड़ आ। मैं स्कूल गई पर पता नहीं क्यों कोई मुझसे बात ही नहीं कर रहा था? मैं ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। मैम सभी बच्चों को मार रही थीं। जब तक मैम मेरे पास आतीं मैं उसके पहले ही ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। मैम की गुस्से से फूली लाल नाक मेरे रोने की आवाज़ सुनकर ठीक हो चुकी थी।

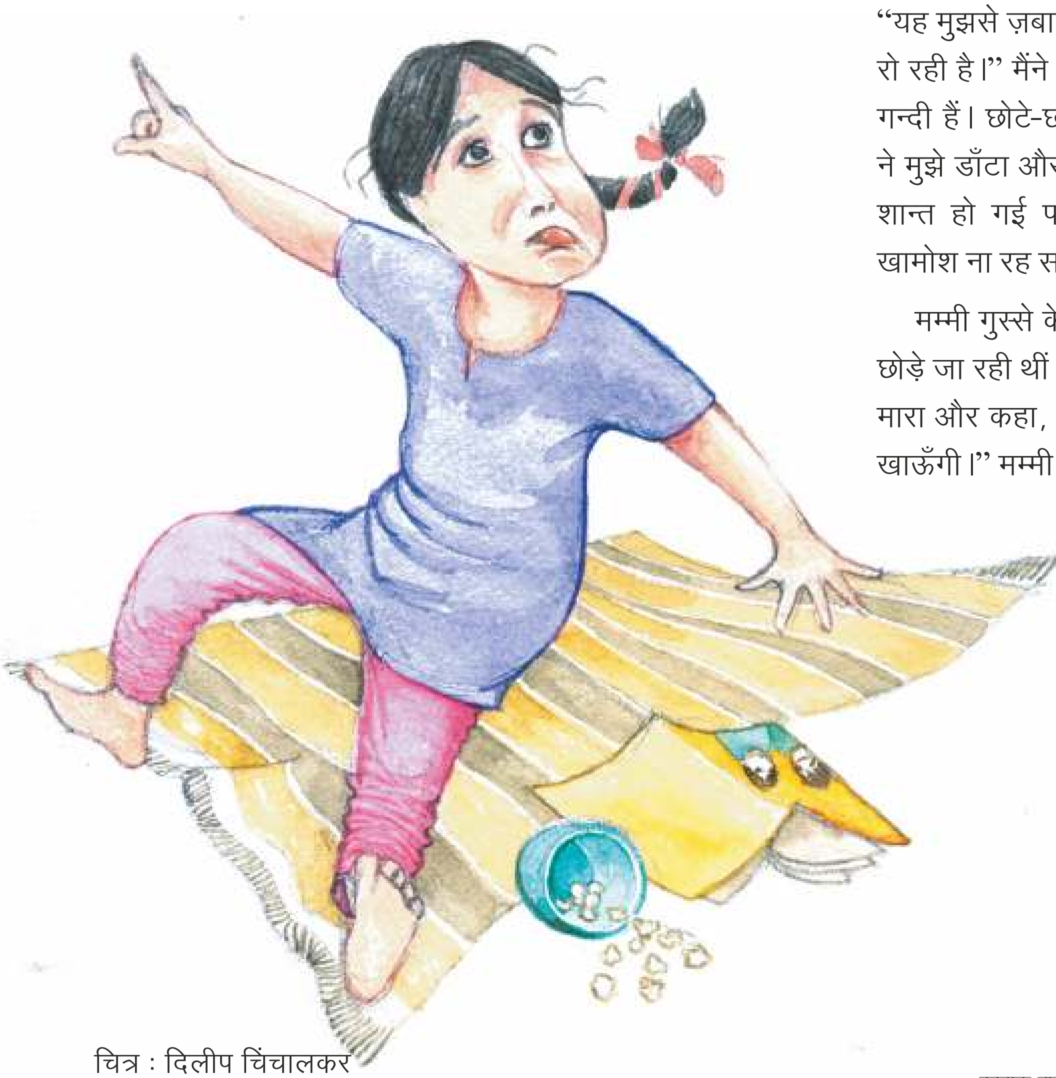

चित्र : दिलीप चिंचालकर

मैम ने मुझसे पूछा, "बेटा क्या हुआ? घर जाना है?" मैंने सिसकियाँ भरते हुए कहा। मैम का अन्दाज़ जो अभी ठण्डा हुआ ही था अचानक फिर से गर्म हो गया। मैम ने मुझे डाँटते हुए कहा, "नहीं जाना है। यहाँ आए अभी ठीक से एक घण्टा भी नहीं हुआ और तुझे घर जाना है।" मेरी आवाज़ और तेज़ हो गई और मैंने कहा, "गन्दी मैम, मेरी मम्मी या दीदी आएँगी न तो डाँट खिलावाऊँगी।" यह सुन मैम सहित सारे बच्चे हँसने लगे।

इस शोर को खामोशी में तब्दील करने के बाद मैम ने लाल रंग के एक पर्स में से एक नया फोन निकाला और रजिस्टर में से नम्बर निकाल मम्मी को फोन कर बुला लिया। मम्मी भी पाँच मिनट में आ गईं। मम्मी ने मैम से पूछा कि इसे क्या हुआ? यह रो क्यों रही है? मैम ने कहा, "यह मुझसे ज़बान लड़ा रही थी और बेफालतू में रो रही है।" मैंने कहा, "मम्मी, यह मैम ना बहुत गन्दी हैं। छोटे-छोटे बच्चों को डाँटती हैं। मम्मी ने मुझे डाँटा और कहा, "चुप, घर चल।" मैं तो शान्त हो गई पर मम्मी के अन्दर का गुस्सा खामोश ना रह सका।

मम्मी गुस्से के मारे तेज़ चलती हुई मुझे पीछे छोड़े जा रही थीं। मैंने भी गुस्से में स्पीड पर ब्रेक मारा और कहा, "मम्मी पाँच रुपए देना, चिज्जी खाऊँगी।" मम्मी ने कहा, "खइबु चिज्जी! चला

(शेष भाग पेज 69 पर)

अलग पर एक जैसे

कहानी व चित्र - फेरिदल ओराल

प्रस्तुतिः अरविन्द गुप्ता

एक बहुत सुहानी शाम एक चरवाहा अपनी बकरियों को चराकर लौट रहा था। सारा दिन घूम-घूमकर बकरियाँ थोड़ी थकी हुई लग रही थीं। हरी-भरी ढलान पर सभी सुस्ताने बैठ गए। तभी एक बकरी ने एक मेमनी को जन्म दिया। काले कानोंवाली मेमनी बहुत सुन्दर थी। पर वह रेवड़ के बाकी मेमनों से थोड़ी अलग थी। उसकी आगे की टाँगें बहुत कमज़ोर थीं। इतनी कमज़ोर कि वो चल-फिर नहीं सकती थी। चरवाहे ने उसे देखते ही इस बात को जान लिया था। और उसे गोद में उठा लिया।

रास्ते भर वो मिमियती रही। और बाड़े तक पहुँचने से पहले चरवाहे की गोद में सो गई।

अगले दिन से चरवाहा उसे अपने झोले में हर जगह ले जाने लगा। मैदानों में दूसरे बच्चे खूब खेलते-कूदते मज़े करते। और झोले में बैठे बच्चे का मज़ाक भी उड़ाते। कभी-कभी चरवाहा बाँसुरी बजाने बैठ जाता। सभी बकरियाँ खुश हो जातीं। पर झोले में बैठी मेमनी को बाँसुरी की आवाज़ उदास कर जाती। वो दूर पहाड़ों के उस पार घास के मीलों फैले मैदानों में कूदने-फाँदने, दौड़ने के सपने देखती।

एक दिन जब बकरियाँ चर रही थीं चरवाहे कुछ सोचते-सोचते चट्टान पर लकीरें खींचने लगा। फिर उसने अखरोट के पेड़ की कुछ डंगालें तोड़ीं। उन्हें मोड़ा, घुमाया और एक डलिया-सी बुन दी।

अगली सुबह जब सारी बकरियाँ बाड़े में सो ही रही थीं, चरवाहा नन्ही मेमनी को गोद में उठाकर आँगन में ले आया। और उसे हौले से डंगाल से बनी गाड़ी में खड़ा कर दिया। फिर पीछे से हलके से धकाया। मेमनी को कुछ समझ नहीं आया। वो क्या करे?

पैदा होने के बाद पहली बार वो अपनी पिछली टाँगों पर खड़ी थी। चरवाहे की मदद से उसने सम्भलते हुए एक कदम बढ़ाया। एक पैर फिर दूसरा पैर बढ़ाते हुए वह हौले-हौले आगे बढ़ने लगी। वो इतनी खुश हुई कि ज़ोर-जोर से मिमियाने लगी। उसकी मिमियाहट इतनी तेज़ थी कि सोए हुए सब जाग गए।

मेमनी फटाफट माँ की बगल में खड़ी हो गई।

वो उड़ती चिड़िया-सी बन गई थी।

वो चल पा रही थी - पहली बार।

अब वो रेवड़ के साथ पहाड़ चढ़ती। घास चरती। दोस्तों के साथ खेलती।

धीरे-धीरे वो बड़ी होती गई। चरवाहे ने उसके लिए एक बड़ी गाड़ी बना दी। एक दिन पहाड़ों में चरते हुए उसने एक बकरे को देखा। उसके सींग झाड़ी में फँस गए थे। उसने उसे छुड़ाया। तब से वो दोनों पक्के दोस्त बन गए। दोनों हमेशा साथ रहते।

एक बसन्त उसने दो बच्चों को जन्म दिया। एक काला और एक सफेद। वो कूदते-फाँदते। वो अपनी माँ से अलग थे। पर दोनों एक जैसे थे। चक मक

अनुवादः शशि सबलोक

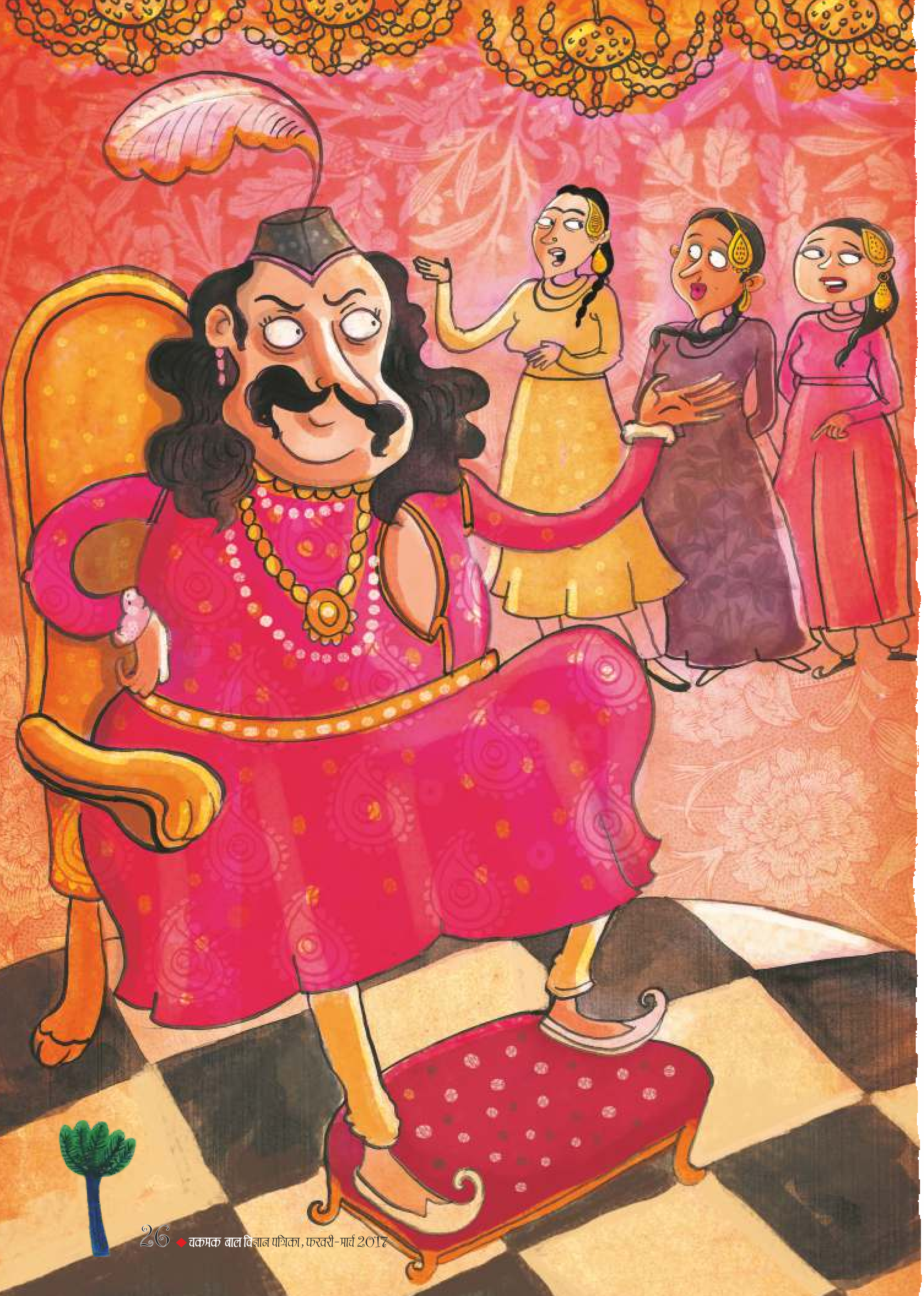

अन्दाज़-ए-गुफ्तगू के क्या कहने!

हिमांशु बाजपेयी

कहा जाता है कि लखनऊ के नवाब देर शाम भेस बदलकर अपने वज़ीर के साथ रियाया (जनता) का हाल जानने शहर में निकलते थे। एक दफा जब वो हस्बे मामूल (हमेशा की तरह) भेस बदलकर शहर में चहलकदमी कर रहे थे तो उनके कानों में किसी सिन्फ-ए-नाज़ुक की आवाज़ पड़ी, "वो जा रहा है, वो जा रहा है।" नवाब साहब चौंककर ठहरे ही थे कि दूसरी आवाज़ आई, "वो न होगा फिर।" और इसके तुरन्त बाद तीसरी आवाज़ में जवाब आया, "बेशक! वो होता तो वो न जाता।" नवाब साहब को ये गुफ्तगू कुछ समझ न आई। उन्हें ये पोशीदा गुफ्तगू (छिपी हुई बातचीत) अपनी शान में गुस्ताखी मालूम हुई। सो अगले दिन उन तीनों लड़कियों को दरबार में तलब किया गया। शाही फरमान था, ठुकराया कैसे जाता! लड़कियाँ हाज़िर हुईं। नवाब साहब ने इरशाद फरमाया कि कल रात तुम तीनों आपस में जो दबी-छुपी गुफ्तगू कर रही थीं उसकी तशरीह (स्पष्ट) करो। अब लड़कियाँ अजीब कश्मकश में पड़ गईं। "हम अपने घर की चहारदीवारी में जो बात कर रहे हैं, उसे बाहरवालों पर क्यों ज़ाहिर करें?" नवाब पर गुस्सा आया तो एक बोली, "हमें तो ये वो लगता है।" दूसरी ने जवाब दिया, "जो वो होता तो क्या वो न होते।" इस पर तीसरी बोल पड़ी, "ऐसे भी तो होते हैं जिनके वो नहीं होते...।" ये पूरी गुफ्तगू सरे दरबार नवाब साहब के सामने हो रही थी। अब तो उनके सब्र का बाँध टूट ही गया। सोचा कि कल इसी अजीबोगरीब गुफ्तगू की वजह से इन्हें यहाँ तलब किया गया, मगर ये गुस्ताख लड़कियाँ हैं कि दरबार-ए-शाही का ज़रा भी लिहाज़ नहीं। नवाब साहब ने पूरे जाहो-जलाल के साथ फरमाया, "या तो इस पोशीदा गुफ्तगू (छिपी बातचीत) की तशरीह की जाए या फिर सज़ा भुगतने को तैयार रहा जाए।"

नवाब के गुस्से को देख लड़कियाँ डर गईं। आखिर उनमें से एक ने जवाब दिया, "हुज़ूर हम पर रहम करें। आपकी शान में गुस्ताखी करें, ऐसी मज़ाल कहाँ? हम पर वक्त की मार पड़ी है। माँ-बाप दोनों जाते रहे। चिकनकारी के ज़रिए जैसे-तैसे गुज़ारा होता है। मगर हूज़ूर हमारी अना (तकलीफ) और तहज़ीब हमारी गुरबत (गरीबी) की पर्दापोशी (छिपाना) सलीके से करती है। ये सिफत (खासियत) हमने लखनऊ की मिट्टी से विरसे (विरासत) में पाई है। कल ये हुआ था कि हम तीनों कढ़ाई कर रहे थे और पास का चिराग बुझने लगा। इस पर छोटी बहन ने अपनी गुरबत को ज़बान पर न लाने की गरज़ से सिर्फ ये कहा कि 'वो जा रहा है' मतलब चिराग बुझ रहा है। इस पर मँझली बहन भी उसी लहज़े में बिना तेल का नाम लिए बोली, 'वो न होगा।' फिर मैं बोली कि बेशक 'वो होता तो वो न जाता।' अब आप पता नहीं क्या से क्या समझ बैठे।"

बादशाह अभी इस अन्दाज़-ए-गुफ्तगू पर खुश हो ही रहे थे कि बड़ी बहन आगे बोली, "ये भी सुनिए कि अभी क्या बात हुई। हम परदे करनेवाली लड़कियाँ हैं। यहाँ आते हुए कितनी निदामत हुई हम ही जानते हैं। जब आपको देखा तो हमारी छोटी बहन ने कहा, 'हमें तो ये वो लगता है।' वो का मतलब था – जानवर। इस पर मँझली ने कहा, 'वो होता तो क्या वो न होते!' मतलब जानवर होता तो सींग न होते। ये सुनकर मैं बोली, 'ऐसे भी तो होते हैं जिनके वो (सींग) नहीं होते।' यानी गधा।" कोई और बादशाह होता तो अपने बारे में ऐसी गुफ्तगू सुनकर पता नहीं क्या कर डालता। मगर ये लखनऊ की नवाबी थी, जो उन लड़कियों की ज़हानत, नेकी और अन्दाज़-ए-गुफ्तगू पर निसार (फिदा) हो गई। नवाब साहब ने उन्हें मालामाल करके दरबार से रुखसत किया।

चित्र : प्रिया कुरियन

हद है!

पल्लवी वर्मा पाटिल

यह इराकी लड़की एक अनाथालय में रहती है। उस दिन वह माँ के साथ सोना चाहती थी। उसने चॉक से माँ बनाई और उसके साथ सो गई...

अलान कुर्दी को जानते हो? 2015 में अलान कुर्दी का परिवार रात में मेडीटेरियन समुद्र पार कर रहा था। अलान तीन साल का था। साथ में उसका पाँच साल का भाई और माँ-बाप थे। सीरिया में आए दिन लड़ाई-मार-काट हो रही थी। इसी से तंग आकर वो रातों रात सीरिया छोड़कर तुर्की चले जाना चाहते थे। वो प्लास्टिक की एक नाव पर सवार थे। नाव में पहले ही बहुत सारे लोग थे। इस उम्मीद में कि वो तुर्की में साथ रहेंगे। बिना डर के। महफ़ूज़। इसलिए घर-बार, दोस्त, शहर सब छोड़कर निकले।

पर यह सफर इतना छोटा होगा यह किसे पता था! बीच समुद्र नाव पलट गई। अलान के पिता अपनी पत्नी का हाथ पकड़े थे। अँधेरे में कुछ सूझ नहीं रहा था। चीख-पुकार मची हुई थी। बच्चे उनके हाथ से फिसल गए। पत्नी भी। पकड़ने की कोशिश की। पर कोई उम्मीद बची नहीं थी। वो किसी तरह बचे।

रिपोर्टरों से बात करते हुए अलान के पिता फफक-फफक कर रो पड़े – एक-एक कर सब खत्म हो गए। इस तस्वीर ने दुनिया को हिलाकर रख दिया। यह खौफनाक मंजर 2011 से सीरिया में चल रहे युद्ध की तकलीफदेह याद की तरह था। युद्ध किस तरह परिवार, समाज, दुनिया को तबाह कर रहा है यह उसकी तरफ एक इशारा था। बच्चे भी इसी समाज का हिस्सा हैं इसलिए वो भी इससे बच नहीं सकते। भले ही युद्ध होने में उनका कोई हाथ नहीं है। और वे सब लोग भी जिनका कोई हाथ नहीं था।

अगस्त 2016 में एक और दिल दहला देने वाली तस्वीर आई। सीरिया का पाँच साल का ओमरान दकनीश एम्बुलेंस में बैठा था। खून, धूल-मिट्टी से सना। अलिप्पो में हुए हवाई हमले से ध्वस्त हुई इमारत के मलवे से उसे खींच निकाला था। वो सदमे में था।

सीरिया तो बस एक उदाहरण है। इस वक्त दुनिया के कोई 35 देश युद्ध की चपेट में हैं। अफगानिस्तान, नाइजीरिया, थाइलैण्ड, सूडान, तुर्की, यमन, पाकिस्तान, माली, लीबिया, इराक, इज़राइल-फलीस्तीन...

युद्ध जैसी स्थित केवल युद्धरत देशों में ही नहीं होती है। कई देशों में वहाँ की सरकारों के खिलाफ विद्रोह भी होता है। इससे उन जगहों में युद्ध जैसी स्थिति पैदा हो जाती है। भारत, श्रीलंका, म्यान्मार जैसे देशों में भी कुछ प्रान्तों में ऐसी स्थितियाँ बन गई हैं। भारत के कश्मीर, उत्तर-पूर्व और बस्तर में लम्बे समय से चल रहे विद्रोही आन्दोलन और उन्हें दबाने के सरकारी प्रयासों के कारण वहाँ के बच्चों को इसी तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है।

पर लड़ाई होती क्यों है?

वो कहावत सुनी है न जहाँ दो बरतन होंगे टकराएँगे ही। जब लोग साथ रहते हैं तो किसी न किसी बात पर मनमुटाव हो ही जाता है। हमारी चीज़ तुमने ले ली तो लड़ाई। हमारे मन का नहीं हुआ तो लड़ाई। तुम्हें कुछ मिला मुझे नहीं इस पर लड़ाई। याद है ना बचपन की लड़ाइयाँ? तेरे पास खिलौना है मेरे पास नहीं। मुझे भी वो चाहिए। माँगने पर पता नहीं मिलेगा कि नहीं। या माँगा ही नहीं। छीन लिया। और लड़ाई हो गई। देशों के बीच या देशों के भीतर की लड़ाइयों के कारण भी कुछ ऐसे ही हैं। प्राकृतिक संसाधन जैसे तेल, पानी, गैस, खनिज के भण्डारों को अपने कब्ज़े में लेना और सत्ता को अपने पास रखना अकसर ये लड़ाइयाँ शुरू होने का कारण बनते हैं। एक जानकार का कहना है कि प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता, कमज़ोर राजनैतिक संस्थाओं और हथियारबन्द संघर्ष के बीच गहरा रिश्ता है।

शिल्प : निज़ार अली बद्र

वो यह भी कहते हैं कि शीत युद्ध (शीत युद्ध के बारे में अपने बड़ों, किताबों या इंटरनेट से पता करो) जब खत्म हुआ तो कई सरकारों को और विद्रोहियों दोनों को अपनी सेना और राजनैतिक गतिविधियों को चलाए रखने के लिए पैसों का ज़रूरत थी। इसके लिए वे निजी स्रोतों को तलाशने लगे। यह मदद उन्हें मिली खनिज, नगों, हीरे, तेल, गैस, अफीम, कॉफी आदि के भण्डारों पर लड़कर कब्ज़ा करने से। कायदा तो यही कहता है कि इनका लेनदेन बँटवारा आपसी रज़ामन्दी और सहयोग से हो जाता। पर नहीं। अकसर इसका नतीजा लड़ाई-झगड़े-युद्ध होता है। कोई किसी पर ताकत दिखाकर हावी होना चाहता है कोई अपना दावा ठोंककर तो कोई जबरदस्ती आप पर चढ़ाई कर। डरा घमकाकर। ऐसा इसलिए कि मालिकाना हक, मुनाफे का बँटवारा, अपनी पहचान, मज़दूरों के हक आदि जैसे विषयों पर अलग-अलग समूह अलग-अलग तरह के मत रखते हैं और अपनी दावेदारी प्रस्तुत करते हैं।

बहुत पहले देशों के बीच होनेवाले युद्धों के कारणों को समझना उतना पेचीदा नहीं था पर आज देशों के भीतर और बाहर जो युद्ध जैसी स्थितियाँ बनी हुई हैं उन्हें समझना पेचीदा मसला है। पर इन स्थितियों के कारण हिंसा और आतंकवाद लोगों के जीवन पर क्या कहर बरसा रही हैं इसे समझना मुश्किल नहीं है। और बच्चों पर तो इसका असर ज़्यादा ही नज़र आता है। एक अनुमान के मुताबिक ऐसे बच्चों की संख्या लगभग 25 करोड़ है। लम्बे समय से ऐसे माहौल में रहने से वहाँ अस्थिरता, हिंसा और शोषण लगातार होता रहता है।

इन इलाकों में रहनेवालों बच्चे पर क्या गुज़रती होगी?

जहाँ हमेशा जंग-लड़ाई-मार-काट मची रहती है वहाँ के बच्चे हमेशा कई डरों में जीते हैं – परिवार से बिछुड़ जाने का डर। हवाई हमलों में घर टूटने का डर। परिवार के लोगों का बम धमाकों, गोली-बारी में मारे जाने का डर। हमलों में गम्भीर रूप से ज़ख्मी हो जाने का डर। हाथ-पैर गँवा देने का डर। बीमारियों का डर। रासायनिक हमलों में

आज लड़ाई-झगड़ों से गुज़र रहे 35 देशों के 3 से 18 साल की उम्र के 75 करोड़ बच्चे स्कूलों से बाहर हैं।

नुकसानदेह रासायनिक पदार्थों, कीटनाशकों के सम्पर्क में आने का डर। छोटी उम्र में जबरन मज़दूरी करने, परिवार का पालन पोषण की ज़िम्मेदारी आन पड़ने का डर। अपना घर छोड़कर दूसरे इलाकों-देशों में रिफ्यूजी कैम्प में रहने का डर। जहाँ जीने के लिए ज़रूरी बुनियादी सुविधाएँ तक नहीं होतीं। स्कूल आदि तो दूर की बात है। कभी-कभी सेना के लोगों को बचाने के लिए उन्हें मज़बूरन ढाल बनना पड़ता है। डरों की फेहरिस्त यहीं खत्म नहीं होती। वो लम्बी है। और लम्बी होती जा रही है। उन्हें हथियारबन्द लोगों द्वारा अगवा किए जाने का भी डर सताता है। वहाँ उनका इतना शोषण होता है कि हमारे लिए सोचना तक मुश्किल है। और जब कभी तमाम डर, हिंसा, शोषण इतने बढ़ जाते हैं कि खुद को बचाने के लिए मज़बूरन उन्हें हथियार उठाना पड़ जाता है।

जहाँ स्थापित सरकारों के खिलाफ विद्रोह होता है, वहाँ देखा गया है कि स्कूल सरकार और विद्रोहियों के निशाने पर रहता है। सुरक्षा बलों को ठहराने के लिए उसका उपयोग किया जाता है। इसलिए विद्रोही उन्हें ध्वस्त करने की कोशिश करते हैं। बस्तर और कश्मीर में ऐसी स्थितियाँ देखी जा सकती हैं।

पिछले कई सालों से बस्तर में माओवादी विद्रोहियों और सरकार के बीच लड़ाई चल रही है। माओवादियों का कहना है कि आदिवासियों के हितों की रक्षा वे ही कर रहे हैं और दूसरी ओर सरकार का कहना है कि माओवादी अलोकतांत्रिक तरीकों और हिंसा से अपना शासन चलाना चाहते हैं।

इस संघर्ष के कारण आदिवासी समाज भी बँट गया – कुछ एक तरफ तो कुछ दूसरी तरफ। दोनों तरफ के लोग हिंसा, गाँव जलाना, बलात्कार, लूट-खसूट से आम लोगों में डर पैदा करना चाहते हैं। हज़ारों लोग लड़ाई से बचने के लिए दूसरे राज्यों में चले गए या अस्थाई कैम्पों में रहते हैं। वे अपने ही देश में शरणार्थी बन गए हैं। इतने हिंसक माहौल में बच्चों की स्थिति और भी बदतर हो गई है। इस हिंसा में शामिल दोनों पक्ष बच्चों का इस्तेमाल करने लगे हैं। खबर भेजने के लिए, जासूसी करने के लिए, विरोधी गाँववालों पर ज़ुल्म करने के लिए, गोलीबारी में बचाव के लिए मानव ढाल के रूप में और बन्दूक लेकर सीधा लड़ने के लिए।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा जारी बच्चों के अधिकारों के संधिपत्र के मुताबिक 18 साल से कम उम्र के बच्चों को इस तरह के कामों में लगाया नहीं जा सकता। आज लड़ाई-झगड़ों से गुज़र रहे 35 देशों के 3 से 18 साल की उम्र के 75 करोड़ बच्चे स्कूलों से बाहर हैं। यह एक तकलीफदेह स्थिति है।

सवाल अपने आप से

दिलीप चिंचालकर

मुझे याद है एक दिन पिताजी ने खीझकर मुझसे कहा था कि बच्चे तुम बड़े ऊटपटाँग सवाल करते हो। कभी ये सवाल अपने आप से भी पूछ कर देखो।

अकसर जब पिताजी कुछ लिख रहे होते या सितार बजा रहे होते तो मैं घर में फैले ऐसे शान्त या शास्त्रीय माहौल से कुलबुलाने लगता और उनसे कुछ अटपटा पूछ बैठता। कभी तो वे अपना काम रोककर मुझे जवाब देते, कभी अनसुना कर देते। मैं क्या करता? वहाँ से खिसककर मेरी बड़ी दीदी तारा से चुहलबाज़ी करने लगता। वह मुझसे सामाजिक अध्ययन की पुस्तक लाने को कहतीं और कहतीं कि चलो, उत्तर खोजना ही है तो हम पढ़ाई के ही क्यों ना खोजें? तब मैं बाहर खेलने चला जाता।

यह बात मैं कभी समझ नहीं पाया कि अपने आप से कैसे पूछा जाए! भई, मुझे पता नहीं है तभी तो आप बड़ों से पूछ रहा हूँ।

आगे चलकर यह मामला और भी कठिन हो गया। यह तब की बात है जब मैं अँग्रेज़ी के रिवर-शिवर वगैरह जैसे शब्दों के हिज्जे याद करने से आगे निकल गया था। एक शब्द था “डफर”। मुझे जल्दी थी इसलिए मैंने तारा से पूछ लिया कि इसमें एक “एफ” लगाने से काम चल जाएगा क्या? या दो लगाना ज़रूरी होगा? उसने भी कठिन रास्ता ही बताया। कहा शब्दकोष ले आओ। उसमें इसका पता लगाओ और मुझे भी बताओ कि सही क्या है। स्कूल से मिला गृहकार्य था, करना ज़रूरी था। थोड़ी कवायद के बाद मुझे जो चाहिए था वह तो मिल ही गया। साथ में डम्ब, डमी जैसे कुछ नए शब्द भी मिल गए जिन्हें मैं कई दिनों तक अपने दोस्तों पर उछालता रहा। मगर बढ़िया तो यह रहा कि मुझे एक डफरीन साहब के बारे में यूँ ही पता चल गया जो आज़ादी से पहले बड़े अँग्रेज़ साहब बनकर कभी भारत आए थे।

समय बीता, मुझे इसकी आदत हो गई। मैं एक बात पर हमेशा अचरज करता रहा कि हमारी पालतू श्वान काकुल को यह किसने बताया कि सवाल अपने आप से पूछो? उसने मुझसे कभी नहीं पूछा कि तुम बाहर जा रहे हो क्या? चूहे को पकड़ने में मदद चाहिए है क्या? मुझे जूते पहनते देख या हाथ में छड़ी लिए दौड़ते देख वह बगैर पूछे जान जाती है कि मसला क्या है। घर आए किसी परिचित से उसे यह भी पूछना नहीं पड़ता कि आप कैसे हैं? वह सूँघकर सब जान जाती है कि उनकी तबियत कैसी है? नीयत कैसी है? घर में सब ठीक है या नाराज़ी का माहौल है। काकुल ज़्यादा भौंकती नहीं है। वह हमेशा चुपचाप बैठकर सब कुछ देखती रहती है। आँखों देखे हाल से अन्दाज़ लगाती रहती है। शायद मौन रहकर देखना ही इसकी तरकीब है। आज़माकर देखना चाहिए।

चित्र : दिलीप चिंचालकर

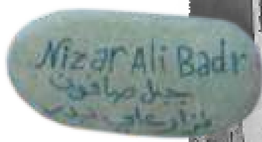

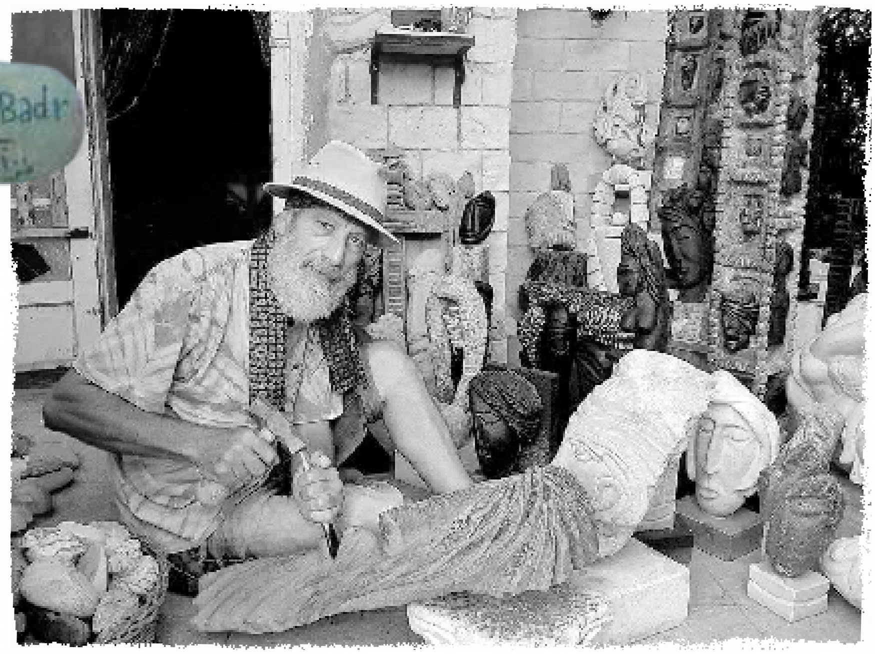

मेरे हाथों ने जवाब दिया ...

निज़ार अली बद्र शिल्पकार हैं और सीरिया के एक बहुत पुराने शहर लटाकिया में रहते हैं। इस शहर में समुद्र है। उसका रेतीला किनारा है और एक बन्दरगाह भी है। इस शहर में कहीं भी चले जाओ गोल-गोल पत्थर पाँव तले आते रहते हैं। कहीं रेत में दबे, कहीं पानी में धुले। ये इस तरह हर जगह थे कि निजार इन्हीं से अपनी बात कहने लगे।

सीरिया में सालों से लड़ाई-मार-काट मची हुई है। लोगों का जीना मुश्किल हो गया है। आए दिन वे अपने घर-परिवार-पड़ोस में रहनेवाले अपने प्रिय लोगों को खोते जा रहे हैं। निज़ार इससे कैसे अछूते रह पाते! वो भी तो इन्हीं में से एक हैं। जो इतनी दहशत में जी रहे हैं कि मजबूरन अपना घर, देश छोड़-छोड़कर जा रहे थे। तो निज़ार इन्हीं पत्थरों से अपने मन की बात कहने लगे। उनके शिल्पों में सीरिया का दर्द है पर एक उम्मीद भी है।

निज़ार से बातचीत का एक अंश –

आप जिस जगह काम करते हैं उसके और आपके काम के बीच कोई रिश्ता है?

लटाकिया से कोई 60 किलोमीटर दूर है सफॉन पहाड़। यहीं से मैं पत्थर, कंकड़ चुनता हूँ। इतने अद्‌भुत रंगों और आकार के हैं ये! इन्हें मैं अपने स्टूडियो में लाता हूँ। और ज़मीन पर बिखेर देता हूँ। फिर इन्हें जोड़-जोड़कर शिल्प बनाता हूँ। पत्थरों को चिपकानेवाली गोंद बहुत महँगी होती है। इसलिए इन्हें सम्भालकर रख नहीं पाता। बस बनाकर इनकी तस्वीर लेता हूँ। वो तस्वीर में ज़िन्दा रहती हैं। फिर इन्हीं पत्थरों से एक और शिल्प बना देता हूँ।

इस पूरी कवायद में जीवन का यह सच बार-बार सामने आता रहता है कि कोई भी चीज़ हमेशा के लिए नहीं रहती। तो इनसे लगाव कोई टिकाऊ चीज़ नहीं। इन सब को खत्म होना ही है।

आपके काम में जगह, समय और अकेलेपन की क्या भूमिका है?

मुझे अकेले रहना अच्छा लगता है। यह मैंने चुना है। जब आप अकेले नहीं रहना चाहते और आपको अकेले रहना पड़ता है तब अकेलापन महसूस होता। मुझे बिलकुल नहीं महसूस होता।

मैं अपने इस म्यूज़ियम (इसे यह नाम मैंने ही दिया है) में कई-कई दिनों तो अकेले रह सकता हूँ – काम करते हुए, कुछ गढ़ते हुए, कुछ रचते हुए। अकेले रहते हुए मैं खुश रहता हूँ, खूब खुश और शान्त। मैं पत्थरों से, सीरिया से बहुत प्यार करता हूँ। कुछ नया रचने की, गढ़ने की प्रेरणा मुझे इन्हीं से मिलती है।

आप संगीत सुनते हुए काम करना पसन्द करते हैं या निपट अकेले?

संगीत नहीं सुनता...कारण एकदम साफ है। बिजली ही नहीं है यहाँ। पर इसका मेरे काम पर कोई असर नहीं पड़ता। बल्कि

इससे मैं खुद को प्रकृति से, अपनी जड़ों से ज़्यादा करीब महसूस करता हूँ। मेरे पूर्वजों ने अक्षर (कीलाक्षर) ईजाद किए। वो दुनिया की पहली लिपी थी। उनका वो जज्बा आज भी मैं अपने भीतर पाता हूँ। वही मुझे कुछ नया, कुछ अनूठा करने की ओर खींचता है। मैं अब तक 10 हज़ार से ज़्यादा शिल्प बना चुका हूँ। दुनिया को बताना चाहता हूँ कि सीरियाई लोगों के जज़्बे को समझें। वो जाने कि हम जो इरादा कर लें तो कोई भी चीज़ हमें डिगा नहीं सकती।

छोटा था तभी से कुछ बनाते रहने, कुछ गढ़ते रहने में बड़ा मन रमता था। लगता था चारों तरफ बिखरी रेत में दबे पत्थर मुझे आवाज़ दे रहे हैं। मैंने उनकी आवाज़ सुनी और मेरे हाथों ने उन्हें जवाब दिया।

छोटा था तो पास के झरनों से, नदी-नालों से कंकर-पत्थर जमा करता रहता था। फिर उनसे इंसान-जानवर इंसान बनाता। बड़ा हुआ तो मेरे साथ एक सपना भी मेरे भीतर बड़ा हुआ। मेरा सपना है लोगों के दिलों तक पहुँचकर अपनी बात कहना। मुझे खुशी है कि अब मेरे पत्थर बोलने लगे हैं। और दुनिया भर को सुनाई दे रहे हैं।

एक कलाकार के अपने संघर्ष होते हैं। अपने संघर्षों के बारे में कुछ बताइए?

मैंने कला को पैसा कमाने का ज़रिया नहीं समझा। मैं कला से प्यार, त्रासदी, दुख, उम्मीद, खुशी दिखाता हूँ। कितने ही लोग हैं जिन्होंने पत्थरों में छिपी कहानियों को देखा। सुना। वे उदास हुए। पर उनकी उम्मीद फिर भी बँधी रही। बनी रही। इन्हें गढ़ते हुए मुझे जो अनुभव होते हैं, जो सुकून मिलता है, इन्हें देखनेवाले भी उसे महसूस कर पाते हैं।

हालाँकि इस लगातार की लड़ाई ने मुझे और मेरे जैसे कइयों को गरीब बना दिया है, लेकिन फिर भी मैं खुद को अमीर मानता हूँ। मेरे ये शिल्प मुझे अमीर बनाते हैं। मैंने आज तक इन्हें बेचा नहीं है। ये अगली पीढ़ी के लिए मेरी सौगात हैं।

आप सन्तुष्ट हैं ?
अपने काम, अपने जीवन से...?

मेरे पुरखे मेरे भीतर अपनी छाप छोड़ जा चुके हैं कि मैं ईमानदारी से, विनम्रता से अपने काम को लोगों तक पहुँचाऊँ। खुशियाँ और प्यार का सन्देश बन्दे-बन्दे तक पहुँचाऊँ। इस मार-काट-मौत, विस्थापन, गरीबी, विनाश, अफरा-तफरी, अन्याय के बीच से इंसान की चीखें सुनाई देती हैं। साथ ही सुनाई देती हैं पत्थर के मेरे शिल्पों की चीखें कि इस जंग को खत्म करो, इस वहशियत को खत्म करो, अपनी इंसानियत को मत खोओ।

क्या आपको कभी
सीरिया को छोड़ देने का मन किया?

सीरिया मेरा देश है। इसे छोड़ने का मुझे कभी ख्याल तक नहीं आया। मुझे इस पर बहुत प्यार आता है। इसे बाहरी लोगों से जो चोट पहुँच रही है वो मेरा दिल भी दुखाती है। मैं इसे छोड़ने की सोच भी कैसे सकता हूँ जिसने मानवजाति को पहली लिखाई दी - यानी कीलाक्षर। मानवविकास और इतिहास में इसका बड़ा महत्व है।

तो आगे क्या????

बस यह उम्मीद की जल्द ही यह जंग खत्म हो जाए। सीरियाई लोगों ने जितनी यातना सही है, उसे सहना दुनिया में किसी के बस में नहीं होगा। लेकिन जैसे दँतकथाओं में चिड़ियाएँ बार-बार मरती हैं और उसी धूल से फिर-फिर पैदा होती जाती हैं, सीरिया की खूबसूरती भी एक दिन फिर जन्म लेगी। प्रेम के पक्षी फिर से प्रेम और शान्ति का सन्देश पहुँचाएँगे।

ये शिल्प पत्थर के हैं। पत्थर शब्द सुनकर मन में क्या आता है? अटल, अटूट, बेअसर, सख्त, भारी, अचल।

...और ये शिल्प?

पत्थर अटल है, अचल है पर ये शिल्प एक यात्रा को दिखाते हैं। मनमार कर, मजबूरी में की गई यात्रा। तब पत्थरों का एक स्वभाव अटल रहना टूटता है लेकिन उनका भारीपन बचा रहता है कि यह यात्रा कितने भारी मन से की जा रही है। पत्थर के सभी अर्थों को पलटते हुए ये शिल्प बने हैं। इसलिए भी ये शिल्प बेहद उम्मीद के शिल्प हैं।

(समस्त सामग्री साभार इंटरनेट)

कवि शंख घोष और उनकी कविता

प्रयाग शुक्ल

कोलकाता में रहते हैं बांग्ला भाषा के जाने-माने कवि शंख घोष। उन्हें कुछ अरसा पहले भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। शंख घोष 84 वर्ष के हैं। पिछले कोई साठ वर्षों से उन्होंने बहुत-सी किताबें लिखी हैं। इनमें कविता की तीस से ऊपर किताबें हैं। इनके अलावा कई किताबें गद्य में हैं, तरह-तरह की चीज़ों पर। एक किताब "किताबों का घर" नाम से भी है। इसमें किताबों से अपने रिश्ते पर भी उन्होंने लिखा है और किताबों की दुनिया कितनी बड़ी है, इसकी याद तरह-तरह से की है। उनका एक बड़ा काम रविन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं और नाटकों को लेकर भी है। रविन्द्रनाथ की लगभग सभी किताबें उन्होंने पढ़ी हैं, और उनके साहित्य पर कई तरफ से सोच-विचार किया है। शंख घोष ने बच्चों के लिए भी कई कविताएँ लिखी हैं, जो किताबों के रूप में भी छपी हैं। ऐसी ही दो कविताएँ हम यहाँ दे रहे हैं। ये बांग्ला भाषा से ही हिन्दी में उतारी गई हैं। बड़ी मज़ेदार हैं।

इन दो कविताओं को बांगला में गुनगुना के देखो...

कॉय दिन

कॉय दिन जॉर जॉर
कॉय दिन जॉर
कॉय दिन बोकूनिते
थाकी जॉर जॉर
कॉय दिन बुलि आज
भालो नॉय दिन
इस्कूल जाई आमि
बाकि कॉय दिन

कुछ दिन

कुछ दिन था बुखार बुखार
कुछ दिन मैं था थोड़ा बीमार
कुछ दिन बस पड़ी डाँट
पढ़ता मैं कैसे पाठ
कुछ दिन थे खस्ता से
दूर रहे बस्ता से
गया नहीं स्कूल
उतने दिन।
बाकी तो जाता रहा
चाहो तो लो तुम गिन।

- शंख घोष

शंख घोष कोलकाता के जादवपुर विश्वविद्यालय में वर्षों तक पढ़ाते भी रहे हैं। लिखना-पढ़ना-पढ़ाना, ये तीनों काम उन्होंने इतनी अच्छी तरह किए हैं कि कोलकाता में, और कोलकाता के बाहर भी उन्हें लोग प्रेम और आदर से याद करते हैं। कोलकाता में, बंगाल में, बांग्लादेश में और दुनिया की दूसरी जगहों में जहाँ भी बांग्ला भाषा पढ़ने-बोलनेवाले लोग हैं, वहाँ-वहाँ शंख घोष भी उनके साथ हैं, मतलब उनके बीच उनकी चीज़ें चाव से पढ़ी जाती हैं। सँभालकर रखी जाती हैं। दूसरी भाषाओं में भी उनकी चीज़ों के बहुत-से अनुवाद हुए हैं। समूचे भारतीय साहित्य-समाज में उनकी लिखी चीज़ों की गहराई और उनमें बसी बहुत-सी बातों की चर्चा होती है।

कोलकाता जितने बड़े शहर के जीवन को वे बड़ी पैनी आँखों से देखते हैं। कभी वे ट्राफिक जाम के प्रसंग से कोई गहरी बात कहते हैं, कभी ट्राम-बस में होनेवाली भीड़ को लेकर कोई ऐसी बात कह देते हैं कविता में, कि हम उस पर बहुत देर तक सोचते रह सकते हैं। (चकमक के मई 2016 के अंक में इसे पढ़ा जा सकता है)। हम सभी जानते हैं कि जब बस या ट्राम में भीड़ होती है तो लोग एक-दूसरे से, कभी और आगे होने को कहते हैं, कभी कुछ खिसकने को, कभी सीधे होकर खड़े होने को, कभी-कभी कुछ झुक जाने को कहते हैं। वे एक कविता में ऐसी ही कई बातें लिखते हैं। फिर पूछते हैं कि हे भगवान, कितना झुकूँ, कितना और छोटा हो

भात रुटी

भात खाबो न रुटी?
ऐई निए खुनशूटि
रुटी न कि भात!
भाबते भाबते कात
आच्छा! ना होए रुटी
शॉन्गे भातओ दुटी
ना ना शुदुई भात
ताई खाबो दिन रात
किन्तु कोथाय चाल?
आन्बो किने काल
ऐई निए जाओ आटा
बाई बाई भाई, टाटा
रोइलो फाँका पात
नेई रुटी नेई भात

रोटी या भात

खाऊँ मैं रोटी या भात?
ना ना रोटी हाँ हाँ भात
मन में मचा यही उत्पात
रोटी या फिर केवल भात!
अच्छा खा लूँ मैं थोड़ा-सा भात
केवल रोटी? केवल भात?
चावल के दाने न चार
जाना होगा क्या बाज़ार
कैसे कहो पकेगा भात!
ले लो ले लो थोड़ा आटा
बाय बाय भाई टा टा टा टा
ना ही रोटी ना ही भात!
कितनी है यह मुश्किल बात!

- शंख घोष
बांग्ला से अनुवाद - प्रयाग शुक्ल
चित्र : वृषाली जोशी

जाऊँ, क्या उतना भी कद अपना न रहने दूँ, जितना कि वह है। मनुष्य को मनुष्य के रूप में बराबर का सम्मान मिले, अच्छे व्यवहार पर से हमारा भरोसा न उठे, जीवन में मिठास हो, इन्हीं इच्छाओं को उनकी कविता बड़े शा़न्त और ठहरे हुए स्वर में कहती है।

शंख घोष बहुत कम बोलते हैं। उनकी आवाज़ में बड़ी गहराई है। हमारे एक दोस्त कहते हैं कि उनकी आवाज़ इतनी गहरी है कि वह किसी कुएँ के भीतर से आती हुई लगती है। सफेद धोती-कुर्ता ही वह अकसर पहनते हैं। सभाओं में बहुत कम बोलते हैं। पर जब कभी बोलते हैं तो मानों बहुत ध्यान से सब उनकी बातें सुनते हैं। सबके कान चौकन्ने और सावधान रहते हैं कि उनका कहा हुआ शब्द कहीं सुनने से रह न जाए। हाँ, वह कम बोलते हैं, पर दूसरों की बात बहुत ध्यान से सुनते हैं। मिलनेवालों से बड़े प्रेम से मिलते हैं। मोबाइल का व्यवहार नहीं करते। घर का फोन खुद उठाते हैं। घर में जो भी जाता है, उसका सत्कार करते हैं। नए लिखनेवालों को बड़े चाव से पढ़ते हैं। और अच्छा लगने पर शाबाशी भी देते हैं। चकमक

जनवरी चित्र पहेली हल

सो	ल	र	कु	क	र		चा	क
फा			मु		सो	या	बी	न
	बा		द	वा	ई			स्त
ना	ग	फ	नी			अ	ना	र
सि		व्वा		कु	म्हा	र		
क	च	रा	पे	टी		ब	गु	ला
	प्प		च	र	खा		ल	
जा	ल		क		ल		द	
र		मू	स	ल		द	स्ता	ने

कबाड़ में देखना, कला

चन्दन यादव

जहाँ मैं खड़ा था वहाँ जगह-जगह कबाड़ के लगे थे। हर ढेर के आसपास पाँच-सात बच्चे बैठे एक-एक चीज़ को उलट-पलटकर देख रहे थे। छोटे-बड़े नट, बोल्ट, चाबियाँ, टीन के ढक्कन, प्लास्टिक की बोतलें, टूटे खिलौने, लोहे की चादरें, साइकिल के पुर्ज़े और भी जाने क्या-क्या था। हाँ, वहाँ दो पुरानी मोटर साइकिलें भी दिखीं। इनमें से एक का तो पुर्ज़ा-पुर्ज़ा अलग कर दिया गया था। तेल की टंकी, हैंडिल, साइलेंसर, चके, मडगार्ड सब अलग-अलग पड़े थे। ये सारा कबाड़ जुगाड़ने में बच्चे सब से आगे रहे थे। घर से, पड़ौस से, गली मोहल्ले के अलावा दुकान-बाज़ार से भी इन्हें ढूँढ के लाया गया था। पाँच-सात रोज़ तक चली थी ये कवायद।

इस तीन दिवसीय कबाड़ से कला कार्यशाला में आनन्द निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल के अलावा भोपाल शहर की अन्य संस्थाओं – मुस्कान, एका, आवाज़ आदि से जुड़े बच्चे भी शामिल हुए। इस कार्यशाला की कल्पना पुणे के शिल्पकार प्रशान्त वडालकर और अनिल वडालकर तथा भोपाल के चित्रकार मोहन शिंगणे और रजनी शिंगणे ने की थी।

जब कबाड़ के ढेर लग गए तो शुरू हुआ उनमें शिल्प की खोज का बेहद कल्पनाशील सफर। इस सफर का बस एक ही नियम था – हर

चीज़ को उलटकर, पलटकर देखो, उलटा करके, तिरछा करके देखो। वो खुद बताएगी कि मुझ से क्या बन सकता है।

और सचमुच ऐसा हुआ भी। साइकिल की सीट में भैंस का मुँह नज़र आया और हैंडल बन गए उसके सींग। बच्चों को इस जुगत में भिड़ा देख मुझे कबाड़ की छँटाई की अहमियत का अन्दाज़ा हुआ।

बीहू बोली, "मैं साइकिल की चेन लेकर घूम रही थी और उसे दाँतोंवाले गियर में बार-बार फँसाकर देख रही थी। उसको लपेटकर देखा तो साँप की कुण्डली जैसी दिखी। उसको साइकिल के एक पैडल पर रखकर देखा तो कुण्डली पर फन फैलाए बैठा साँप बन गया। फिर हमने इसे मोहन दा से वेल्ड करवा लिया।"

मुस्कान संस्था से जुड़े अगरिया समुदाय के बच्चे भी इस कार्यशाला में आए थे। ये लोहे से घर में काम आनेवाली चीज़ें जैसे चाकू, झारा, खिड़की-दरवाज़े की जाली, हँसिया, खुरपी आदि बनाने का काम करते रहे हैं। अब इन चीज़ों की माँग कम होती जा रही है। इसलिए अब ये साइकिल पर वेल्डिंग मशीन रखकर फेरी लगाने लगे हैं। इस कार्यशाला में शामिल हुए सुरेश ने चहककर कहा, "ये तो नई बात पता चली। हम तो लोहे के टुकड़ों से चाकू-झारे ही बनाते थे। इनसे तो कित्नी सारी सुन्दर-सुन्दर चीज़ें बन सकती हैं।"

अम्बर ने बताया, "बहुत सारी चीज़ें कल्पना में आ जा रही थीं, पर उन्हें बना नहीं पाए। शुरू दिन से ही नट के साइड्स जोड़कर कुछ बनाने का मेरे मन में चल रहा था और आखिर में नटों को जोड़कर मैंने पेड़ बनाया।"

भूमिका ने कहा, "फावड़े को देखते ही मुझे लगा था कि यदि दो मिल जाएँ तो उन्हें पंखों की तरह इस्तेमाल कर सकते हैं, फिर हमने उसकी तितली बनाई।"

पार्थ ने बताया, "अक्षर और मैंने मोटरसाइकिल की बैकलाइट को देखकर सोचा कि इस का गणेशजी बनाते हैं। पर जब और गौर से देखा तो उसमें एक बकरी का चेहरा नज़र आया।" चक मक

सभी चित्रः अनिल सिंह

माधुरी पुरन्दरे की कहानियाँ अलग क्यों होती हैं?

संध्या टाकसाले

अनुवादः अलकनन्दा साने

माधुरी पुरन्दरे को हाल में ही टाटा ट्रस्ट्स का बिग लिटिल बुक अवार्ड मिला है। तुम्हें याद है न हमने इसी अवार्ड को पाने वाले चित्रकार अतनु राय से तुम्हारी मुलाकात करवाई थी। यह बच्चों के साहित्य में उनके योगदान को शुक्रिया कहने, उसे समझने तथा उसका आनन्द उठाने का मौका भी है। जैसा है। 2014 में उन्हें साहित्य अकादमी अवार्ड भी मिला था। माधुरी जी मराठी की जानी-मानी लेखक व चित्रकार हैं। उन्होंने पच्चीस से ज़्यादा किताबें लिखी तथा चित्रित की हैं। "वाचू आनन्द" नाम की किताब श्रृंखला के लिए भी वे याद की जाती हैं। इन किताबों में उन्होंने मराठी साहित्य तथा कला से बच्चों को परिचित करवाया है। माधुरी जी एक असाधारण गायक भी हैं। वे फ्रैंच भाषा में दखल रखती हैं। उन्हें चकमक के सभी पाठकों की तरफ से बधाई।

बच्चों को माधुरी जी की किताबें पढ़ना इतना पसन्द क्यों है? आइए उनसे ही पूछें...

दापोली में रहनेवाली मितवा अब कक्षा दस में हैं, फिर भी बार-बार *यश की कहानी* निकालकर पढ़ती रहती है। नागपुर की एक बच्ची ने *राधा का घर* पढ़ने के बाद अपनी छोटी बहन का नाम राधा रखने की ज़िद पकड़ ली। पुणे की एक छुटकी ने *बाबा की मूँछें* पढ़कर अपने पिता से वैसी ही मूँछें रखने को कहा। एक बच्चा चाहता है कि उसका पड़ौसी *पाँचवीं गली* के चित्रकार कान्होबा जैसा हो।

अकसर बड़े लोग सोचते हैं कि ये नन्हे पाठक माधुरी जी के रचना संसार में इतना कैसे डूब जाते हैं? उन्हें इस बात का भी ताज्जुब होता है कि यह लेखिका बच्चों की दुनिया के बारे में आखिर इतना कैसे जानती हैं?

कई बार बच्चों को यह पसन्द नहीं आता कि उनके माता-पिता किसी दूसरे बच्चे की तारीफ करें। वे चिढ़ जाते हैं। नाराज़ होते हैं और फिर उन्हें *पावनी* का छोटा यश बिलकुल अपना-सा लगने लगता है। तब ये बच्चे यश की तरह ही सोचने लगते हैं। उन्हें लगता है कि अपने खिलौने, अपनी चिज्जी मिल-बाँटने से शायद अधिक खुशी मिलती है। एक ओर कहानी के रूप में वे पावनी को पसन्द करते हैं, दूसरी ओर उन्हें जीवन मूल्यों के संस्कार भी मिलते हैं। माधुरी जी की कहानियों में उपदेश बिलकुल नहीं होते और न ही वे कभी यह पूछती हैं कि बच्चो! इस कहानी से हमें क्या शिक्षा मिलती है? वे जानती हैं कि कहानी इन सवालों के बिना भी अपना काम कर सकती है।

माधुरी जी की कहानियों का कमाल यह है कि वे बच्चे और बड़ों दोनों को लुभाती हैं।

बच्चों का रहन-सहन, उठना-बैठना, विचार, भाषा और परिवेश के बारे में माधुरी जी बिलकुल अलग तरीके से सोचती हैं, जबकि अनेक लेखक अपने बचपन की बातें, मज़ेदार किस्से या विचारों को ही आज के समय में ढालकर बच्चों के लिए लिखते हैं। माधुरी जी की लेखनी में बच्चों का स्वभाव नज़र आता है। उनकी दुनिया के वे एकदम करीब होती हैं।

माधुरी जी की भाषा सीधी, सरल और प्रवाही है। उस प्रवाह में पाठक आसानी से बह जाता है। उनकी कहानी न तो "बच्चो क्या आप जानते हैं?" या फिर "एक बार क्या हुआ" से शुरू होती है और न ही "और फिर वे सुख से रहने लगे" पर खत्म होती है। कोई भी कहानी यह सोचकर नहीं लिखी जाती कि बच्चों में समझ कम होती है। एक कहानी की शुरूआत इस तरह होती है – "बुदगुल्या आज भी धड़ाम से गिर पड़ा" यह कहानी सुनते हुए एक बच्चे ने तुरन्त पूछा, "आज भी?" यानी वह रोज़ गिरता था क्या?' इस तरह की शैली से बच्चे कुछ बातें अपने आप समझ जाते हैं। माधुरी जी का मानना है कि बच्चों का साहित्य इसी तरीके से लिखा जाना चाहिए ताकि वे अपनी कल्पना और वैचारिक शक्ति का सही उपयोग कर सकें। कहानी में शामिल हो सकें। माधुरी जी का लिखा *सिल्वर स्टार* बाल उपन्यास है, लेकिन उपन्यास की भाषा बचकानी नहीं है।

रसीला हास्य, खुशनुमा चित्र

माधुरी जी की किताबें पढ़ते समय बच्चे खिलखिलाकर हँसते हैं। पढ़ने में बच्चों को मज़ा तो आना ही चाहिए! एक बानगी देखिए। *राजा सयाना हो गया* इस पुस्तक में राजा बार-बार बीमार पड़ता है। प्रधान कहता है, "महाराज डॉक्टर के पास चलिए।" राजा चीखकर पूछता है, "डॉक्टर के पास? खबरदार, मैं तुम्हें चिकोटी काटूँगा।" यह पढ़कर बरबस हँसी फूटती है। माधुरी जी की कहानी में हड़बड़ी में रहने वाली परी, चूहे से डरने वाला आलसी आदमी, लालू नामक मोटा-ताज़ा बिल्ला, पाचवडेकर जी का डच्चू कुत्ता जैसे पात्र सिर्फ हास्य पैदा करने के लिए नहीं आते, वरन वे कहानी के पात्र के रूप में सामने आते हैं। जैसे-जैसे कहानी आगे बढ़ती है,परिस्थितिजन्य हास्य इनके माध्यम से अनायास उत्पन्न होता है। उनकी रचना, कहीं से भी सिर्फ शाब्दिक करामात या जानबूझकर तैयार की गई कृति नहीं लगती।

माधुरी जी बच्चों के लिए चित्र बनाती हैं। उनकी ज़्यादातर किताबों में चित्र उन्हीं के बनाए हुए हैं। यह भी कहा जा सकता है कि उनकी कहानी और चित्र दोनों मिलकर एक अद्भुत रसायन निर्मित करते हैं। चित्र देखते ही बच्चे खुश हो जाते हैं और चित्रों के द्वारा भाषा के परे जाकर कहानी का आनन्द लेते हैं, खिलखिलाकर हँस

(शेष भाग पेज 69 पर)

—रिया,
पूर्णा लर्निंग सेंटर
बैंगलौर कर्नाटक

शंख

क्या सागर को
शंखों की कीमत का अन्दाज़ा नहीं
या फिर वो मजबूरन
छोड़ देता है उन्हें
किसी किनारे पर
जहाँ से ले जाता है उन्हें कोई
और रखता है
अपने सीने से लगाकर
जैसे कभी सागर ने रखा था

—गौरांशी चमोली, दसवीं,
जोशीयाड़ा, उत्तरकाशी, उत्तराखण्ड

प्यार

प्यार से अच्छी कोई चीज़ नहीं ऐसा मुझे लगता है। प्यार है तो हम सब हैं। प्यार नहीं तो कुछ नहीं। जब कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को कुछ लाने या ले जाने को कहता है तो प्यार से। अगर हमें किसी से कुछ पूछना हो तो प्यार से। अगर हम ये सब प्यार से नहीं करें तो हम कुछ कर नहीं पाएँ। अब हमारे घर में ही देखिए। अगर मेरी माँ या बहन मुझे कुछ काम करने को बोलते हैं तो अच्छे से जब नहीं बोलते तो हम उस काम को नहीं करते और वही काम प्यार से बोलें तो कर देते हैं।

—विष्णु कुमार मांझी, खेम भटकन,
परिवर्तन संेटर सिवान, बिहार

— प्रणिका सक्सेना, पाँचवीं,
डीपीएस पुणे

राम का रुपया

राम नाम का एक लड़का था। वह बहुत गरीब था। वो एक दिन मेले में जा रहा था। वह अपनी माँ से रुपया माँग रहा था। माँ ने उसे एक रुपया दे दिया था। वह मेले में गया। वहाँ एक दुकान पर गया। उसने एक लड़के को देखा कि उसका रुपया गुम गया था। राम ने उसे अपना रुपया दे दिया।

—करन सिंह, पाँचवीं, रा. उ. प्रा. विद्यालय बासनी पुरोकिना, राजस्थान

– राहुल प्रजापत, सातवीं, उदयपुर, राजस्थान

– मयंक आनन्द, पाँचवीं, डीपीएस पटना

मन की बात

मन करता है मैं उड़ जाऊँ
मन करता है कि मैं
आसमान पर घर बनाऊँ
मन करता है कि
चाँद के साथ खेलूँ मैं
मन करता है कि
आकाश को छू लूँ मैं
नदी के किनारे पानी पिऊँ
बैठ डाल पर गाना गाऊँ
फिर मैं बिस्तर में सो जाऊँ

– सूरज कुमार, चौथी,
अपना स्कूल कानपुर, उ. प्र.

— विदिशा, दूसरी, बैंगलोर

जब झाँकता हूँ मैं खिड़की से बाहर
सुबह के छह बजे,
दिखाई देती हैं
ढेर सारी चिचियाती चिड़ियाँ

मुझे हर बार लगता है यूँ
सुना रही हों वो एक-दूसरे को कविता ज़्यों

मैं भी कविता सुनाने को होता हूँ तत्पर
जिसे लिखा था पिछली दोपहर

अपनी खिड़की से बाहर झाँकने के बाद
मैं शान्ति से करता हूँ दोपहर का इन्तज़ार

– सिद्धार्थ, टीका गमरू, धर्मशाला

— हरिता भोई, आठवीं, शा. उच्च. प्रा. शाला, बोईरमल (छ.ग.)

—वरुण खामरा,
डीपीएस वाराणसी,
उ. प्र.

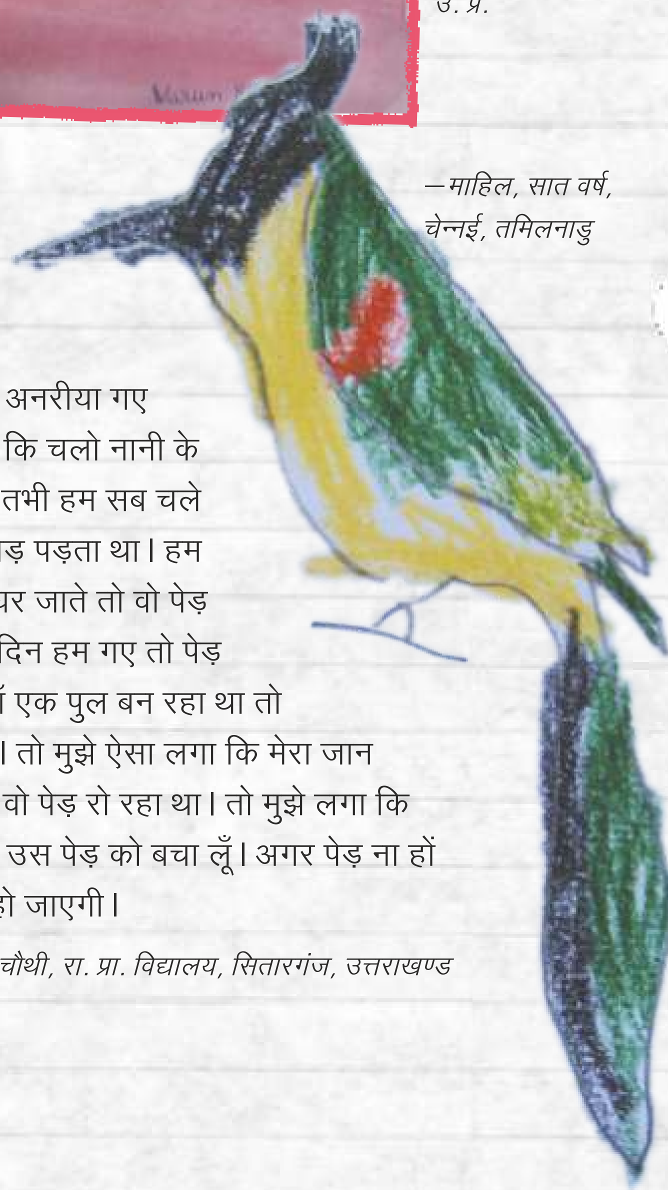

—माहिल, सात वर्ष,
चेन्नई, तमिलनाडु

ओस की बूँदें

ठुण्ड से ठिठुरती
ओस की बूँदें
मोतियों-सी घास पर
बेखौफ सोई हैं।
चादर ओढ़े
ना कपड़े पहने
ना जाने कहाँ
खोई हैं।
खामोश बूँदें
कुछ कहती हैं
नम आँखों से घास
झट से पढ़ लेती है
मानसूनी हवा बहती
तो लिपटती हैं
घास के साथ
बूँदें आपस में

—विष्णु कुमार, नवीं, सर जी डी पाटलिपुत्र उ. मा. विद्यालय कदमकुआँ पटना, बिहार

पेड़

एक दिन हम सब अनरीया गए थे। तो पापा बोले कि चलो नानी के घर भी चलते हैं। तभी हम सब चले तो रास्ते में एक पेड़ पड़ता था। हम जब भी नानी के घर जाते तो वो पेड़ मिलता था। एक दिन हम गए तो पेड़ कट रहा था। वहाँ एक पुल बन रहा था तो वो पेड़ काट दिए। तो मुझे ऐसा लगा कि मेरा जान निकलती हो। तो वो पेड़ रो रहा था। तो मुझे लगा कि बस में से कूदकर उस पेड़ को बचा लूँ। अगर पेड़ ना हों तो धरती वीरान हो जाएगी।

—सम्मो बी, चौथी, रा. प्रा. विद्यालय, सितारगंज, उत्तराखण्ड

– अरस्तू जैन, तीसरी, डीपीएस पुणे

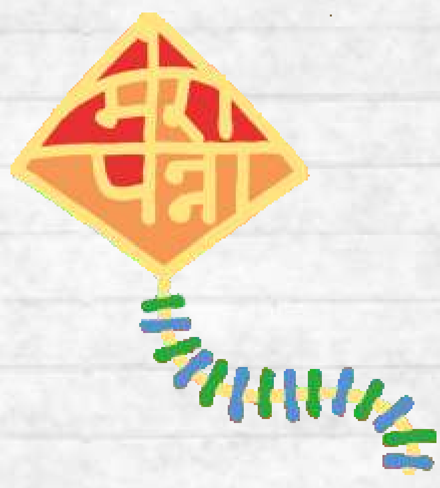

इंग्लिश रानी करे मनमानी

इंग्लिश रानी, इंग्लिश रानी
तू है कितनी बड़ी सयानी
हर भाषा को पीछे करके
करती है तू बेईमानी
पी यू टी 'पुट' और बी यू 'बट'
कैसी है तेरी मनमानी
इंग्लिश रानी, इंग्लिश रानी
तू है कितनी बड़ी सयानी
सब विषयों का पीछे करके
तेरा ध्यान लगाते हम
कोशिश करके थक-थक जाते
फिर भी समझ ना पाते हम
इंग्लिश रानी, इंग्लिश रानी
तू है कितनी बड़ी सयानी
तेरी अदा अनोखी कितनी
डण्डों से पिटवाती है
रोज़ डाँट सुनवाती है
ज़रा रहम कर हम बच्चों पर
मत बन इतनी तू अभिमानी
इंग्लिश रानी, इंग्लिश रानी
तू है कितनी बड़ी सयानी

- मिताक्षरा, तीसरी,
डीपीएस वाराणसी, उ. प्र.

मिल-बाँचें
मध्यप्रदेश

अभियान के आह्वान को मिले भरपूर समर्थन से प्रेरित होकर, अब यह कार्यक्रम 28 जनवरी, 2017 की जगह 18 फरवरी, 2017 को आयोजित किया जाएगा। आइये हम सब साथ मिलकर, 18 फरवरी को मिल-बाँचें मध्यप्रदेश कार्यक्रम के रूप में प्रदेश भर की शासकीय प्राथमिक एवं माध्यमिक शालाओं के बच्चों को पाठ्यपुस्तकों के साथ ही अन्य रुचिपूर्ण किताबें पढ़ने हेतु प्रेरित करें।

कार्यक्रम अब **18 फरवरी 2017** को

"आइये, **मिल-बाँचें मध्यप्रदेश** कार्यक्रम में हम सब भागीदार बनें और बच्चों में किताबें पढ़ने की ललक जगाएं।"

कुँवर विजय शाह
मंत्री, स्कूल शिक्षा, म.प्र.

दीपक जोशी
राज्य मंत्री, स्कूल शिक्षा, म.प्र.

स्कूल चलें हम अभियान
मध्य प्रदेश

D 80304 दिनांक 17-1-2017

जन प्रतिनिधि, प्रेरक, कार्यरत/सेवानिवृत्त शासकीय सेवक, डॉक्टर, इंजीनियर एवं निजी क्षेत्र में कार्यरत अन्य प्रोफेशनल, शाला के पूर्व छात्र एवं उच्च कक्षाओं में अध्ययनरत विद्यार्थी भी रजिस्ट्रेशन कर इस अभियान का हिस्सा बन सकते हैं।

रजिस्ट्रेशन: 12 फरवरी 2017 तक | रजिस्ट्रेशन के लिए लॉगऑन करें: **www.schoolchalehum.mp.gov.in**
अथवा ईमेल: **rsk.curriculum@gmail.com** या फोन नं. **0755 2768391**

पढ़े ना कोई 12वीं से कम

www.facebook.com/schoolchalehum.mp.gov.in www.schoolchalehum.mp.gov.in

एक पेड़ की क्या कीमत है?

रेक्स डी रोज़ारियो

सवाल तो सचमुच बहुत गम्भीर है। एक पेड़ की आखिर क्या कीमत है? पर कीमत का अन्दाज़ा लगाना इस बात पर निर्भर करता है कि यह काम करने वाला कौन है। और वह पेड़ को किस नज़रिए से देखता है। एक व्यापारी पेड़ की कीमत उसकी लकड़ी के आधार पर तय करेगा। लकड़ी किस प्रकार की है? किस काम में आएगी? उसे बाज़ार में बेचने पर क्या दाम मिलेगा? इत्यादि।

दूसरी तरफ एक किसान यह देखता है कि साल भर में पेड़ कितने फल देता है और कितने वर्षों तक फल देता रहेगा। और फिर पत्तियाँ किस काम आएँगी – ढोरों के चारे के रूप में या फिर खाद बनाने में?

इस सबसे अलग एक बच्चा शायद यह सोचेगा कि कड़कती धूप में पेड़ की छाया में बड़ा आनन्द आता है। उसका फल कितना मीठा है। उसके फूलों की सुगन्ध कितनी मस्त है। उसे खूब मज़ा आता है पेड़ की डालों पर चढ़ने और झूला झूलने में। तो इन सबकी क्या कीमत है? बच्चों की खुशी की क्या कीमत है? मुस्कराहट की क्या कीमत है?

एक और नज़रिया है पेड़ों को देखने का। न केवल पेड़ बल्कि पूरे जैव-मण्डल को देखने का, जिसमें पेड़ तो सिर्फ एक हिस्सा भर है। जैव-मण्डल यानी? यानी सारे जीते-जागते पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, कीड़े-मकोड़े, इंसान आदि सबको मिलाकर जो तंत्र है, वही। और इन्हें एक और तरह से देखने का यह नज़रिया है किसी पर्यावरणविद का। वह देखता है कि जैव मण्डल से पृथ्वी को क्या फायदा होता है? मानव को क्या फायदा होता है?

मान लो, कहीं एक घना जंगल है तो जंगल के पेड़-पौधों, जानवरों का आबोहवा पर क्या प्रभाव पड़ता है? वायुमण्डल पर क्या प्रभाव पड़ता है?

हाँ, जंगल के पेड़ों से बहुत फायदा होता है। कहा जाता है और तुमने भी पढ़ा-सुना होगा कि पेड़ वायु को शुद्ध बनाते हैं। वे प्रकाश संश्लेषण (पौधों द्वारा भोजन बनाने की क्रिया) में कार्बन डाइ-ऑक्साइड को सोखते हैं और हवा में ऑक्सीजन छोड़ते हैं।

किसी भी जैव मण्डल का आर्थिक लाभ कई मायनों में आँका जा सकता है – जैसे मौसम के उतार-चढ़ाव को बहुत तीखा नहीं होने देना, मिट्टी का निर्माण करना, पानी सोखकर उसे आगे के लिए बचाकर रखना, टिकाऊ फसलें व जानवर। जैव मण्डल के विनाश का सालाना नुकसान लगभग 250 बिलियन या 125 अरब रुपए होता है। यानी कि 1,25,00,00,00,000 रुपए!

वैज्ञानिकों का कहना है कि वायुमण्डल में कार्बन डाइ-ऑक्साइड की मात्रा हद से ज़्यादा बढ़ रही है। खासकर फैक्ट्रियों में ईंधन के जलाने से। यहाँ तक कि पृथ्वी का तापमान भी बढ़ रहा है। उनका कहना है कि एक-दो डिग्री तापमान बढ़ने से ध्रुवों की बर्फ पिघलने लगेगी और पिघली बर्फ पानी बनकर समुद्र में मिलेगी। फलस्वरूप समुद्र की सतह एक-दो फुट ऊँची उठ जाएगी। और जब यह होगा तब समुद्र तट पर बसी अनेक बस्तियाँ डूब जाएँगी।

वैज्ञानिक कहते हैं कि वायुमण्डल पर असर पड़ने से बारिश का चक्र भी प्रभावित होगा। मॉनसून की बारिश पर भी प्रभाव पड़ेगा। तो जैव मण्डल बचाकर रखना अत्यन्त ज़रूरी है।

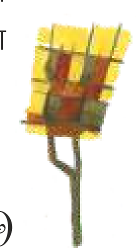

भोपाल के आनन्द निकेतन डैमोक्रेटिक स्कूल में हुई कार्यशाला – कबाड़ में कला देखना – में यह शिल्प दस साल की अम्बर ने बनाया है।

कई सरकारों का कहना है कि हम पेड़ काटेंगे, क्योंकि समाज को लकड़ी की सख्त ज़रूरत है। पर हम उनके बदले नए पेड़ भी लगाएँगे। आज भी कई इलाकों में ऐसे ही पेड़ लगाने की प्रक्रिया चल रही है। पर मानव द्वारा लगाए वन और प्राकृतिक वन में बहुत-से खास अन्तर होते हैं।

पहला तो यह कि अकसर ऐसे गिने-चुने पेड़ लगाए जाते हैं जो उपयोगी हैं और "उपयोगी" का मतलब है व्यावसायिक तौर पर उपयोगी। वे पेड़ जिनसे आमदनी हो सके। और गिने-चुने किस्म के पेड़ लगाने से वह प्राकृतिक जैव मण्डल या प्राकृतवास तो वापस नहीं आ सकता न, जो नष्ट किया गया है। उसमें जो जानवर होंगे, जो कीड़े-मकोड़े होंगे, सभी अलग होंगे।

हाल ही में इंग्लैण्ड व संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ वैज्ञानिकों ने प्राकृतिक और मानव द्वारा निर्मित प्राकृतवास की तुलना की। अपने शोध कार्य के दौरान उन्होंने यह हिसाब भी लगाया कि प्राकृतिक तथा मानव रचित जैव मण्डल का मूल्य क्या है? वन्य स्थलों के संरक्षण से हमें कितने "रुपयों" का लाभ होता है? उनका कहना है कि जैव मण्डल के विनाश का सालाना नुकसान लगभग 250 बिलियन या 125 अरब रुपए होता है। यानी कि 1,25,00,00,00,000 रुपए!

इन वैज्ञानिकों ने यह भी कहा कि किसी भी जैव मण्डल का आर्थिक लाभ कई मायनों में आँका जा सकता है – जैसे मौसम के उतार-चढ़ाव को बहुत तीखा नहीं होने देना, मिट्टी का निर्माण करना, पानी सोखकर उसे आगे के लिए बचाकर रखना, टिकाऊ फसलें व जानवर।

पर इन लाभों का मूल्य लगाना आसान नहीं है। क्योंकि पेड़ों द्वारा दी जाने वाली इन व ऐसी ही दूसरी कई सेवाओं की बिक्री नहीं हो सकती जैसा कि व्यापार में होता है। पर अर्थशास्त्री इन गैर बाज़ारी सेवाओं का मूल्य भी माप लेते हैं। इसके लिए कई अलग-अलग तरीके अपनाए जाते हैं। जैसे कि अगर कहीं कोई प्राकृतिक जंगल या प्राकृतवास नष्ट हो गया हो तो उसकी जगह नए प्राकृतवास को स्थापित करने में क्या कीमत चुकानी पड़ेगी। या लोग उस प्राकृतवास के लिए कितना पैसा खर्च करने के लिए तैयार हैं। वैज्ञानिकों ने पाँच परिवर्तित जैव-मण्डलों का अध्ययन किया।

1. मलेशिया का एक ऊष्णकटिबन्धीय वन जिसके सारे पेड़ व्यावसायिक कारणों से कट चुके थे।

2. छोटे किसानों व व्यावसायिक बागानों हेतु कट चुका कैमरून का एक ऊष्णकटिबन्धीय वन।

3. थाइलैण्ड का एक मैंग्रोव क्षेत्र (दलदली जंगल) जो झींगा उत्पादन के लिए परिवर्तित किया गया था।

4. कनाडा का एक दलदली क्षेत्र जो खेती के लिए सुखाया गया था और

5. फिलीपींस का एक मूँगा क्षेत्र जो मछली पकड़ने के लिए बारूद से उड़ाया गया था।

उनका कहना है कि इस तरह के बदलाव से जैव-मण्डल का आर्थिक मूल्य कहीं 14 प्रतिशत तो कहीं 75 प्रतिशत तक घट जाता है – यानी औसतन 45 से 50 प्रतिशत।

उन्होंने पाया कि आँधी और बाढ़ नियंत्रण, वायुमण्डल से कार्बन डाइ-ऑक्साइड को सोखना, शिकार, पर्यटन आदि सेवाओं के कारण जो नुकसान होता है वह इनके कारण बदली हुई स्थिति से प्राप्त आर्थिक लाभ से कई गुना ज़्यादा है। उनका यह भी कहना है कि पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधनों के माल और सेवाओं से जो लाभ मिल सकता है, वह उनके परिवर्तन से प्राप्त फायदों से लगभग 4,400 बिलियन (220 नील रुपए) ज़्यादा हैं। यानी एक रुपए का फायदा हुआ तो उसके कारण ही 100 रुपए का नुकसान!

एक बात और, आज दुनिया में हम अस्त्र-शस्त्र पर जितना पैसा खर्च करते हैं, उसके सिर्फ छठे हिस्से से पृथ्वी की प्राकृतिक सम्पदा का संरक्षण कर सकते हैं।

पर सोचने की बात तो यह है कि इस पर सोचेगा कौन? कौन तय करेगा कि हमारे जीने के लिए बम-बारूद-बन्दूक ज़्यादा ज़रूरी है या पेड़-पौधे?

(चकमक के 300वें अंक से)

उलझन

रेक्स डी रोज़ारियो

दसवीं की परीक्षा अगले महीने शुरू होने वाली है। तुम्हारे चार दोस्त आकर कहते हैं, "अपने को पेपर मिल सकते हैं। ट्यूशन वाले दत्ता साब कह रहे हैं कि वे इन्तज़ाम कर देंगे।"

"कितना लगेगा," तुम पूछते हो।

"डेढ़ हज़ार।"

"और पकड़े गए तो? हमारा नाम कट जाएगा। माता-पिता तो मुझे घर से निकाल देंगे।" तुम्हें थोड़ी बेचैनी होती है। "और यह तो चोरी है। उन लोगों का क्या होगा जिन्हें पेपर नहीं मिलेंगे?"

"अरे कुछ नहीं होगा यार," वे लोग तुम्हें समझाते हैं। "अरे यार, सभी लोग ऐसा करते हैं। आजकल यही चलता है।"

"और यह कितनी फालतू की परीक्षा है। इसमें तुम्हारी अकल की जाँच तो होती नहीं। बस, रटो और उगलो। सोचो, रिज़ल्ट अच्छा रहा तो अपनी पसन्द के कोर्स में जा सकेंगे।"

"बाकी लोगों को भूल जाओ, अपनी फिक्र करो। आखिर यह तुम्हारे भविष्य का सवाल है।"

तुम उलझन में हो। उनकी बातें भी सही लगती हैं। पर कुछ ठीक भी नहीं लगता। तुम्हें क्या करना चाहिए? तुम क्या करोगे? कारण सहित बताओ।

चुनिन्दा जवाबों को आकर्षक इनाम दिए जाएँगे।

चित्र : अतनु राय

(चकमक के फरवरी 2008 के अंक से)

दीवार में एक सुराख

इट्गर कैरेट

सेन्ट्रल बस स्टेशन की ठीक बगल में बर्नाडॉट्ट एवेन्यू है। इसकी दीवार में एक सुराख है। कभी यहाँ एक एटीएम हुआ करता था। पर वो टूट-टाट गया या कुछ और हुआ होगा। या फिर वो कभी इस्तेमाल ही नहीं हुआ इसलिए बैंकवाले उसे निकाल ले गए। और कभी वापस नहीं लाए।

ऊदी को एक बार किसी ने बताया था कि उस सुराख में चिल्लाकर अपनी मन की बात कहो तो वह पूरी हो जाती है। ऊदी को यकीन तो नहीं हुआ पर एक बार जब वह फिल्म देखकर लौट रहा था तो उसने उस सुराख में ज़ोर-से कहा कि रूथ रिमाल्ट को उससे प्यार हो जाए। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ।

फिर एक दिन जब वो बहुत अकेला महसूस कर रहा था उसने सुराख में चीखकर कहा कि उसे एक फरिश्ता चाहिए जो उसका दोस्त बने। और क्या कमाल कि उसे अदेर ही एक फरिश्ता मिल गया। पर वो कभी भी उसका दोस्त नहीं बना। जब भी ऊदी को उसकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती ऐन उसी वक्त वो नदारद हो जाता। वो बड़ा दुबला-पतला फरिश्ता था। उसके कँधे आगे की ओर झुके रहते थे। अपने पंखों को छिपाने के लिए वो हमेशा एक बदबूदार कोट पहने रहता था।

आस-पड़ौस के सभी लोग उसे कुबड़ा समझते थे। जब कभी वो दोनों अकेले होते तो वह अपना कोट उतार देता। एक बार तो उसने ऊदी को अपने पंखों को छूने भी दिया था। लेकिन जब कमरे में और भी लोग होते थे तो वह कोट पहने रहता था। क्लीन के बच्चों ने एक बार उससे पूछा कि उसके कोट के अन्दर क्या है? तो उसने कहा कि वह किताबों से भरा हुआ बैग टाँगे है। जो किसी और की हैं। और वह नहीं चाहता कि वे भीग जाएँ। असल बात यह है कि वह पूरे समय झूठ बोलता रहता था। वो ऊदी को ऐसी-ऐसी कहानियाँ सुनाता कि जान ही निकल जाए। जन्नत के बारे में, उन लोगों के बारे में जो रात में सोने से पहले चाबियाँ आग में डाल देते थे। ऐसी बिल्लियों के बारे में जिनमें डर का नामोनिशान तक नहीं था। कमाल की कहानियाँ बनाता था वो! और उस पर तुर्रा यह कि वो एकदम सच्ची हैं इस पर वो हज़ार-हज़ार कसम खाने को तैयार रहता।

ऊदी उसके पीछे पागल था। वह उसकी कही हर बात पर पूरा यकीन करने की कोशिश करता। जब वह मुश्किल में था तो ऊदी ने उसे पैसे उधार भी दिए थे। पर फरिश्ते ने एक बार भी ऊदी की मदद नहीं की। वह सिर्फ और सिर्फ बातें करता। बस, बात बात बात...। अपनी ऊलजुलूल कहानियों की झड़ी लगाए रखता। इन छह सालों में ऊदी ने उसे एक गिलास तक धोते नहीं देखा था।

ऊदी ने कुछ काम सीखना शुरू ही किया था। एक दिन जब उसे किसी की सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी जिससे वो बात कर सके, वह फरिश्ता पूरे दो महीने के लिए गायब हो गया। और जब लौटा तो उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी। और उसके पूरे चेहरे पर जैसे लिखा था मुझसे-कुछ-ना-पूछा-जाए। सो ऊदी ने कुछ नहीं पूछा।

शनिवार के दिन वे दोनों जाँघिया पहने छत पर धूप सेंक रहे थे। दोनों ही कुछ उदास थे। ऊदी ने वहाँ पसरी छतों को देखा। वहाँ केबल के तार थे, सोलर हीटर थे और दूर तक फैला आसमान था। अचानक उसे ख्याल आया कि इतने साल साथ रहते हुए हो गए पर उसने एक बार भी फरिशते को उड़ते हुए नहीं देखा।

ऊदी ने कहा, “थोड़ा-सा पास में उड़ आओ तो कैसा रहे? शायद तुम्हें भी अच्छा लगे?”

फरिश्ते ने कहा, “रहने दो जी। किसी ने देख लिया तो?”

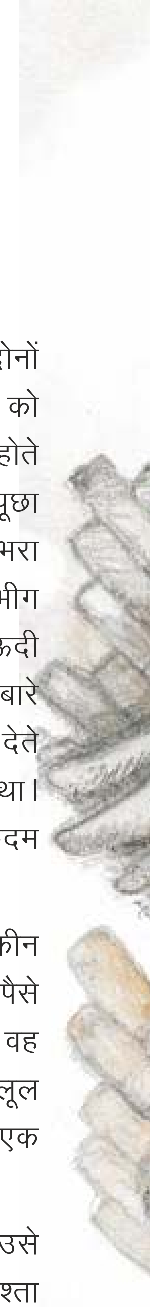

चित्र : अतनु राय

ऊदी ने ज़िद पकड़ ली। "अरे यार, ऐसा भी क्या? मेरे लिए इतना भी नहीं कर सकते?" इस पर फरिश्ते ने अजीब-सी आवाज़ निकालते हुए खँखारा और तारकोल बिछी छत पर थूक दिया।

ऊदी खीजकर बोला, "कोई बात नहीं, बच्चू। मैं शर्त लगा सकता हूँ कि तुम्हें उड़ना आता ही नहीं है।"

इस पर फरिश्ता तपाक से बोला, "आता है। मुझे उड़ना आता है। बस मैं ये नहीं चाहता कि लोग मुझे उड़ता हुए देखें।"

तभी उन्होंने देखा कि गली के उस पार वाली छत से बच्चे गली में फुग्गों में पानी भर-भर के फेंक रहे हैं। ऊदी मुस्कराकर बोला, "पता है, जब मैं छोटा था और तुमसे मिला नहीं था। तब मैं अकसर यहाँ आया करता था। और नीचे गली में आते-जाते लोगों पर पानी भरे फुग्गे फेंकता था।" कहता हुआ ऊदी छत की रेलिंग तक आ गया। नीचे गली के एक तरफ किराने की दुकान थी और उसके सामने जूते की। दोनों दुकानों ने तिरपाल लगा रखी थी। छत से देखने पर दोनों के बीच सँकरी सी जगह दिख रही थी। ऊदी ने उस जगह की ओर इशारा करते हुए कहा, गली से लोग ऊपर की ओर देखते तो उन्हें सिवाय तिरपाल के कुछ दिखता ही नहीं था। उन्हें पता ही नहीं चलता कि पानी भरा फुग्गा आया कहाँ से!"

फरिश्ता भी उठकर रेलिंग तक आ गया। और नीचे गली में देखने लगा। उसने कुछ कहने के लिए अपना मुँह खोला ही था कि अचानक ऊदी ने पीछे से उसे हलका-सा धक्का दे दिया। फरिश्ता अपना सन्तुलन खो बैठा। ऊदी तो यूँ ही ठिठोली कर रहा था। वह फरिश्ते को चोट नहीं पहुँचाना चाहता था। वह तो बस मज़े के लिए उसे बस थोड़ा-सा उड़ता देखना चाह रहा था। पर फरिश्ता पूरी पाँच मंज़िल से ऐसे गिरा जैसे आलू का बोरा हो। ऊदी हक्का-बक्का रह गया। उसने गली के किनारेवाली पटरी पर उसे गिरा देखा। उसके शरीर में कोई हरकत नहीं थी। सिर्फ उसके पंख हलके-हलके फड़फड़ा रहे थे। वैसे ही जैसे मरते हुए होता है। तब उसे समझ आया कि फरिश्ते ने जो भी बातें की थीं, सब की सब झूठी थीं। यह भी कि वह कोई फरिश्ता भी नहीं था। वो तो सिर्फ एक पंखोंवाला झूठा था।

अनुवाद - वर्षा शुक्ला

एक रुकी हुई सुबह

नाचघर की पाँचवीं किस्त

प्रियम्वद

दूध देनेवाला लड़का तीन दिन के लिए गाँव चला गया था। तीन दिन मोहसिन को दूध लाना था। अज़ान की आवाज़ के साथ अम्मी ने उसे उठा दिया था। आधी नींद में ही दूध की बाल्टी लटकाए वह भैंस के चट्टे तक चला आया था। दूधवाला अभी भैंसें लेकर नहीं आया था। दूध लेनेवाले कुछ लोग आ गए थे। उन्होंने अपने बरतन लाइन में रख दिए थे। मोहसिन भी अपनी बाल्टी रखकर छोटे मैदान की मुँडेर पर बैठकर ऊँघने लगा।

सुबह की हवा में ठण्ड उतर आई थी पर सर्दियाँ अभी पूरी तरह शुरू नहीं हुई थीं। अभी मुँह से भाप नहीं निकलती थी। कोहरे को पार करने की कोशिश में धूप की सुनहरी पत्ती या नाव या तितली भी नहीं दिखती थी। अभी सड़क की भट्टियों और घरों के चूल्हों का धुँआ, शाम को बिजली के तारों तक जाकर ही थक नहीं जाता था। पर मोहसिन के स्कूल का समय बदल गया था। अब देर से क्लास शुरू होती। देर से स्कूल बन्द होता। शाम को अँधेरा भी जल्दी होने लगा था। नाचघर की छत पर भी ज़्यादा देर रोशनी नहीं रहती। नाचघर में उतरने और वहाँ रुकने का समय कम हो गया था। सर्दियाँ बढ़ने के साथ यह और कम होनेवाला था। ऊँघते हुए मोहसिन के दिमाग में बादलों की तरह सब तैर रहा था!

बीच-बीच में पास खड़े लोगों की बातों के टुकड़े भी कानों में चुभ रहे थे। उसे अकसर बड़ों की बातें कभी अच्छी नहीं लगतीं। वे हमेशा किसी की बुराई करते। पैसों की, मज़हब की, ताकत की, लड़ाई-झगड़े या बीमारियों की बात करते। गन्दे चुटकलों पर गन्दे तरीके से हँसते। लालची होते, पान थूकते, सिगरेट का धुँआ निकालते। गालियाँ देते, हमेशा चीखकर लड़ते हुए बोलते। पेड़ों पर खिले फूल तोड़ लेते, सड़कों पर कूड़ा फेंकते, पेशाब करते। जानवरों को, चिड़ियों को पिंजरे में बन्द कर देते। पूरी दुनिया में लड़ाई करते, मासूमों का कत्ल करते। उनकी बातों में कभी फूल...परियाँ...कविता...कहानी...नहीं होते। अभी भी वे यही कर रहे थे। हिन्दू, मुसलमान, मन्दिर, मस्जिद, ऐसे शब्द नश्तर की तरह मोहसिन के कानों में घुस रहे थे।

टुन-टुन-टुन...भैंसों के गले में लटकी घण्टी बजी। सामने से दूधवाला आ रहा था। उसके पीछे तीन बड़ी भैंसे थीं। उनके पीछे एक और आदमी था। दोनों के हाथ में बाल्टी थी। आगेवाले के कँधे पर रस्सी और बड़ा बोरा था। पीछेवाले के दूसरे हाथ में एक मरा हुआ बछड़ा था। उसकी खाल में भूसा भरकर उसे फुलाया हुआ था। पार्क के पास आकर वे रुक गए। आगेवाले ने भैंसों को मुँडेर की रेलिंग से बाँध दिया। पीछेवाले ने मरा बछड़ा मुँडेर पर लटका दिया। पहला आदमी ही दूधवाला था। वह पहली भैंस के थनों के पास बैठ गया। बाल्टी घुटनों के बीच दबाकर भैंस के थनों पर उँगलियाँ फेरने लगा। देर तक वह यह करता रहा। थनों में दूध नहीं उतरा। भैंसें इधर-उधर भी कूद रही थीं। उस आदमी ने दूसरे को इशारा किया। उसने मरा हुआ बछड़ा भैंस के सामने खड़ा कर दिया। भैंस ने उसे देखा। उसके पास मुँह लाई। जीभ बाहर निकाली। उसे सूँघा...चाटा। उसके थनों में दूध उतर आया। आदमी ने दुहना शुरू कर दिया। मोहसिन देख रहा था। भैंस की आँखों में ममता थी। दूध की मोटी धार बाल्टी में गिर रही थी। जल्दी ही बाल्टी भर गई। उसने बाल्टी आदमी को पकड़ा दी। दूसरी बाल्टी घुटनों में दबा ली। भरी बाल्टीवाले को पता था किसके बरतन में कितना दूध डालना है। उसने सबके बरतनों में दूध डाल दिया। वह मोहसिन की बाल्टी भी पहचानता था। उसमें भी दूध डाल दिया। मोहसिन मुँडेर से उतरा। उसने बाल्टी उठा ली।

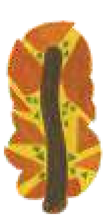

स्कूल में अभी समय था। सड़क पर हलकी रोशनी आ गई थी। हवा ठण्डी थी। मोहसिन को अच्छा लगा। उसने सोचा पार्क के अन्दर घने, ऊँचे पेड़ों के नीचे की पगडण्डियों से गुज़रते हुए घर जाएगा। वह पार्क के बड़े दरवाज़े से अन्दर चला गया।

अभी पार्क में सन्नाटा था। सुबह घूमनेवाले आना शुरू ही हो रहे थे। अभी आसमान पर चीखते हुए चमगादड़ पेड़ों पर लौट रहे थे। जो लौट आए थे बरगद की शाखाओं से उलटे लटककर ऊँघने लगे थे। बरगद के आठ पेड़ों के नीचे से मोहसिन निकला। उन्हीं पेड़ों के नीचे एक बड़ा कुँआ था जिसमें 1857 के गदर में दो सौ बीस अँग्रेज़ औरतों-बच्चों का कत्ल करके लाशें फेंक दी गई थीं। उस पर अब बड़ा, गोल, चिकना पत्थर लगा था। बच्चे उस पर स्केटिंग कर रहे थे। एक दिन यहीं सगीर बाशा ने मोहसिन को सब बताया था। तब यह कुआँ बहुत बदनाम हुआ था। यहाँ से लंदन तक।

बाद में अँग्रेज़ों ने इसे ढँक दिया था। उन औरतों और बच्चों की याद में उन पर एक रोती हुई परी बना दी थी। लोग कहते थे कि रात में उस परी के आँख से सचमुच के आँसू निकलते हैं। कुल दो सौ बीस आँसू। वे आँसू बहकर नीचे चले जाते हैं। इसीलिए वह कुआँ कभी सूखा नहीं। आँसुओं से भरा रहता था। सगीर बाशा बताते रहे थे।

चित्र : प्रशान्त सोनी

"सुनो...बच्चे..." फिर आवाज़ आई। मोहसिन रुक गया। अब उसे दिखाई दिया। एक बड़े पचसुतिया पेड़ के नीचे, बेंच पर एक आदमी बैठा था। इशारे से मोहसिन को बुला रहा था। मोहसिन पगडण्डी से उतरकर पेड़ों के बीच घास पर चला गया। बेंच पर बैठा आदमी अब उसे साफ दिख रहा था। वह दुबला-पतला था। चेहरे पर खुरदुरी सफेद दाढ़ी थी। गालों की हड्डियाँ उभरी थीं। माथे पर मोटा मस्सा था।

"तुम पेड़ पर चढ़ सकते हो?" मोहसिन पास आया तो उसने पूछा।

"हाँ।" मोहसिन ने सिर हिलाया।

"ऊपर देखो।" उसने पेड़ की तरफ इशारा किया। मोहसिन ने सर उठाकर देखा। घने पत्ते थे।

"कुछ दिखा?"

आज़ादी के बाद परी हटा दी गई। अब नदी किनारेवाले सबसे पुराने चर्च में रखी है। मोहसिन ने रोती हुई परी नहीं देखी थी। चर्च भी नहीं देखा था। सगीर बाशा ने दोनों दिखाने का वायदा किया था। फिर मोहसिन भूल गया। सगीर भी!

मोहसिन कुछ देर कुएँ पर रुका। स्केटिंग करते बच्चों को देखा। ऊपर आसमान में घूमते और पेड़ों पर लटके चमगादड़ों को देखा। फिर पगडण्डी के छोटे रास्ते पर चल दिया।

"ऐ ...बेटा ...लड़के..." किसी ने आवाज़ दी। मोहसिन ने चारों ओर देखा। कोई नहीं था। वह आगे बढ़ गया।

"नहीं।"

"ठीक से देखो... बिलकुल सर के ऊपर।"

मोहसिन ने फिर देखा। अब उसे दिखा। दो डालों के बीच बहुत पतली, छितराई टहनियों का टुकड़ा रखा था। उस पर चिड़िया का एक बच्चा बैठा था। छोटा...बहुत बहुत छोटा। मोहसिन ने चिड़िया का इतना छोटा बच्चा कभी नहीं देखा था।

"अब मेरी बात ध्यान से सुनो।" वह आदमी बेंच से उठ गया। "कल शाम को मैं यहाँ बैठा था। तभी यह पेड़ से नीचे गिर पड़ा। ठीक यहाँ ...मेरे सामने।" उसने ज़मीन की तरफ उँगली दिखाई।

"बस जन्मा ही था शायद। इसके गिरते ही इसके माँ-बाप और दूसरी चिड़िया आईं। इसने पंख फड़फड़ाने की कोशिश की। पर हिलडुल कर ही रह गया। इसमें इतनी ताकत नहीं थी। कुछ देर बाद वे सब हट गए। अँधेरा हो रहा था। कुत्ते भी आ सकते थे। बड़ी चील या नेवला भी। मैंने इसे हथेली पर उठा लिया। यह सर उठाए मुझे देख रहा था। इसकी आँखें गीली थीं। मैंने साइकिल पर जाते एक माली को रोका। टहनियों का एक टुकड़ा पड़ा था। उसे उठाया। इसे उस टुकड़े की एक टहनी पर रखा। साइकिल के कैरियर पर खड़ा हुआ। दो डालों के बीच की जगह पर टहनी को रख दिया। यह सोचकर कि बाद में शायद यह उड़ जाए, किसी मज़बूत डाल पर बैठ जाए।" इतना बोलने में वह आदमी हाँफने लगा था। उसकी छाती ऊपर नीचे हो रही थी। उसने कुछ देर साँस ली। फिर बोला, "मैं पूरी रात सोया नहीं। सुबह होते ही यहाँ आया। आकर देखा यह पूरी रात बिलकुल उसी तरह बैठा रहा जैसा मैं छोड़ गया था। डर के मारे बिना हिले-डुले...भूखा...प्यासा...। इसकी माँ या दूसरी चिड़ियाँ भी नहीं दिख रही थीं। वास्तव में जिस टहनी पर यह बैठा है उसके चारों तरफ खाली है। इसे गिरने का डर है।" उसने मोहसिन को देखा। हाथ में दूध की बाल्टी लटकाए वह सुन रहा था। "तुम इस पेड़ पर चढ़ जाओ। इसे इन टहनियों से उठाकर ऊपरवाली मोटी डाल पर बैठ दो। वहाँ इसका डर दूर हो जाएगा। इसे जगह मिलेगी। यह फुदक सकता है...उड़ने की कोशिश कर सकता है। दूसरी चिड़ियाँ भी वहाँ आराम से बैठ जाएँगीं।"

मोहसिन ने सर हिलाया। दूध की बाल्टी उसने बेंच पर रख दी। पेड़ का तना मोटा और थोड़ा झुका हुआ था। ज़रा-सा ऊपर जाकर वह गुलेल की तरह दो मोटी डालों में बँट गया था...फिर और डालों में। मोहसिन

सब अजीब था... सुर्ख फूल... उगता पीला सूरज... नीला आसमान थरथराता आलाप... कटा चाँद और ठहरे परिन्दे एक ही जगह एक ही क्षण पर रुक गए थे।

आराम से पेड़ पर चढ़ गया। अब वह चिड़िया के बच्चे को बहुत साफ देख रहा था। डाल से चिपकता हुआ मोहसिन टहनियों के टुकड़े तक पहुँच गया। डाल पर लेटकर पकड़ने के लिए उसने बच्चे के ऊपर हथेली रखी। मोहसिन का स्पर्श पाते ही वह घबरा गया। उसने उड़ने की कोशिश की। वह फिर नीचे गिर पड़ा। मोहसिन ने ऊपर से देखा। थोड़ा हटकर वह चौड़ी पगडण्डी पर गिरा था। वहाँ फिर चील, कुत्ता, नेवला कोई भी आ सकता था। मोहसिन जल्दी-से पेड़ से उतरा।

बच्चे को बचाने के लिए आदमी उसके पास खड़ा हो गया था। मोहसिन बच्चे के पास आया। वह सहमा, सिमटा था। बच्चे की आँखें गीली थीं। मोहसिन झुका। इस बार उसने बच्चे को दोनों हथेलियाँ चिपकाकर उठा लिया। बीच में साँस की जगह छोड़ दी। बच्चा हथेली में फड़फड़ाया। मोहसिन इसी तरह पेड़ की तरफ बढ़ा। कोहनी और जाँघों के सहारे वह पेड़ पर चढ़ा। चिपककर रेंगता हुआ वह फिर उसी जगह पहुँच गया जहाँ से पेड़ की दूसरी मोटी, सीधी डाल गई थी। पत्तों के बीच उसने धीरे-से बच्चे को रख दिया। बच्चे का डर खत्म हो गया था। पाँवों के नीचे मोटी डाल थी। चारों ओर पत्ते थे। उसका घर था। शायद मोहसिन की मुलायम हथेलियों, करुणा और प्यार को भी उसने पहचान लिया था।

मोहसिन डाल से उतर आया। उसकी हथेलियों में उस बच्चे की खाल की गरमी, गर्माहट और फड़फड़ाहट थी। जीवित, काँपती हुई। मोहसिन ने हथेलियों को चेहरे से छुआया। नाक के सामने रखकर सूँघा। नई...ताज़ी...साँस लेती ज़िन्दगी की गन्ध थी।

"शाबाश।" उस आदमी ने मोहसिन के सर पर हाथ रखा "आओ देखते हैं।" वह बेंच पर बैठ गया। दूध की बाल्टी हाथ में पकड़कर मोहसिन भी उसके पास बैठ गया। कुछ ही क्षणों में आसपास के पेड़ों से खूब सारी चिड़ियाँ आ गईं। शायद वे रातभर वहीं कहीं थीं। इनमें उसकी माँ भी थी। उसने बच्चे के पास जाकर उसे चूमा। उसकी चोंच में कुछ डाला। कुछ देर तक उसे अपने पंखों से गरमी देने, सहलाने, खिलाने के बाद चिड़ियों ने एक घेरा बनाया। बच्चे ने पंख फड़फड़ाए। एक उछाल मारी और चिड़ियों से घिरा हुआ उड़ गया।

सुर्ख गुलमोहर के पीछे आसमान हलका सुनहरा होना शुरू हो गया था। एक थरथराते आलाप की आवाज़ उस सुर्ख और सुनहरे को मथ रही थी। भोर का एकादशी का चाँद भी उनके बीच था। तीन परिन्दे भी वहीं ठहरे हुए थे। सब अजीब था। सुर्ख फूल... उगता पीला सूरज... नीला आसमान। थरथराता आलाप... कटा चाँद और ठहरे परिन्दे एक ही जगह, एक ही क्षण पर रुक गए थे। सब स्थिर हो गया। सोती सुन्दरी की कहानी की तरह। अचानक सब कुछ जहाँ जैसा था, थम गया था। यही सृष्टि थी। यही प्रकृति थी। यही जीवन था। यही सुख था।

स्कूल का समय हो रहा था। बाल्टी लेकर मोहसिन भागता हुआ घर आया। "कहाँ रह गया था?" अम्मी ने दूध की बाल्टी लेते हुए पूछा। मोहसिन ने अपनी दोनों हथेलियाँ उसके चेहरे के सामने कर दीं, "सूँघो।" अम्मी ने हथेलियाँ सूँघीं। चूम भी लीं।

"क्या रखा था?" उन्होंने पूछा। शायद सचमुच कोई गन्ध थी या मोहसिन का मन रखने के लिए उन्होंने पूछ लिया।

"चिड़िया का बच्चा।" नहाते, तैयार होते-होते मोहसिन ने पूरी कहानी सुना दी। अम्मी ने उसका माथा चूमा, "बहुत सवाब का काम किया है। कभी तुम चिड़िया के बच्चे बनोगे तो परवरदिगार तुम्हें भी इसी तरह बचाएगा। हमेशा ऐसे ही बने रहना।" कहकर वह अन्दर चली गईं। मोहसिन ने स्कूल के कपड़े पहने। बस्ता ठीक किया। जूते पहने। मेज़ पर रखे रात के बासी पराठे, दही और गुड़ खाया। कँधे पर बस्ता सरकाया। साइकिल उठाई और दौड़ता हुआ स्कूल की तरफ चल दिया। और तो सब गुज़र रहा था पर सुबह को उसने अपने अन्दर रोक लिया था। उसे अभी स्कूल के दोस्तों को और फिर शाम को, लाजवन्ती को, इस सुबह के भी बारे में बहुत कुछ बताना था।

जारी...

फॉर्म-4 (नियम-8 देखिए)

मासिक चकमक बाल विज्ञान पत्रिका के स्वामित्व और अन्य तथ्यों के सम्बन्ध में जानकारी

प्रकाशन का स्थान: भोपाल
प्रकाशन की अवधि : मासिक
प्रकाशक का नाम : अरविन्द सरदाना
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : एकलव्य
ई-10 शंकर नगर, बी.डी.ए. कॉलोनी, शिवाजी नगर
भोपाल 462 016

मुद्रक का नाम : अरविन्द सरदाना
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : एकलव्य
ई-10 शंकर नगर, बी.डी.ए. कॉलोनी, शिवाजी नगर
भोपाल 462 016

सम्पादक का नाम : सुशील शुक्ल
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : एकलव्य
ई-10 शंकर नगर,
बी.डी.ए. कालोनी, शिवाजी नगर
भोपाल 462 016

उन व्यक्तियों के नाम, राष्ट्रीयता और पते जिनका इस पत्रिका पर स्वामित्व है : रैक्स डी. रोज़ारियो
: भारतीय
: एकलव्य
ई-10 शंकर नगर, बी.डी.ए. कॉलोनी,
शिवाजी नगर, भोपाल 462 016

मैं अरविन्द सरदाना यह घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

(प्रकाशक के हस्ताक्षर)
अरविन्द सरदाना

28 फरवरी 2017

चित्रः हबीब अली

अन्तर उर्फ फर्क

एक दिन की बात है। राजा कृष्ण देव राय गोपाल से कुछ नाराज़ थे। किसी बात पर राजा गोपाल से बोले, "तुम पक्के मूर्ख हो। तुम में और एक गधे में क्या फर्क है?" गोपाल कहाँ चूकने वाले थे। उन्होंने झट-से राजा और अपने बीच की दूरी नापी और राजा को बहुत ही विनम्रता से कहा, "राजन्, मेरे और एक गधे के बीच का फर्क तीन हाथ और सात अँगुल है।" राजा समझ गया और उसने ज़ोर का ठहाका लगाया। वह इतना हँसा, इतना हँसा कि उसके आँसू निकल पड़े।

उस्ताद!

एक बार गोपाल काली मन्दिर पहुँचे। वहाँ के पुजारी थोड़े नकचढ़े थे। बात-बात पर गुस्सा हो जाते थे। गोपाल से वे ज़रा चिढ़ते भी थे। गोपाल मन्दिर में चले आ रहे थे और उनके पीछे-पीछे एक कुत्ता भी मन्दिर के अन्दर घुसा चला आ रहा था। पुजारी ने गोपाल से कहा, "देखो भाई, तुम आ रहे हो वो तो ठीक है पर अपने कुत्ते को तो बाहर छोड़ आओ।" गोपाल ने पीछे देखते हुए कहा, पुजारी जी, "ये कुत्ता मेरा नहीं है।" पुजारी ने तर्क किया, "चल तो तुम्हारे पीछे ही रहा है न? तुम्हारे पीछे-पीछे आ रहा है तो तुम उसके उस्ताद हुए कि नहीं?" दृश्य कुछ ऐसा था कि गोपाल के पीछे कुत्ता था और कुत्ता के पीछे पुजारी जी खड़े थे। यानी गोपाल को मौका मिल गया था। उसने पंडित जी का तर्क उन्ही पर दागते हुए कहा, "यानी पुजारी जी, अगर आप कुत्ते के पीछे खड़े हैं तो क्या मैं यह समझूँ कि कुत्ता आपका उस्ताद है?"

हाइकू . . .

तेजी ग्रोवर

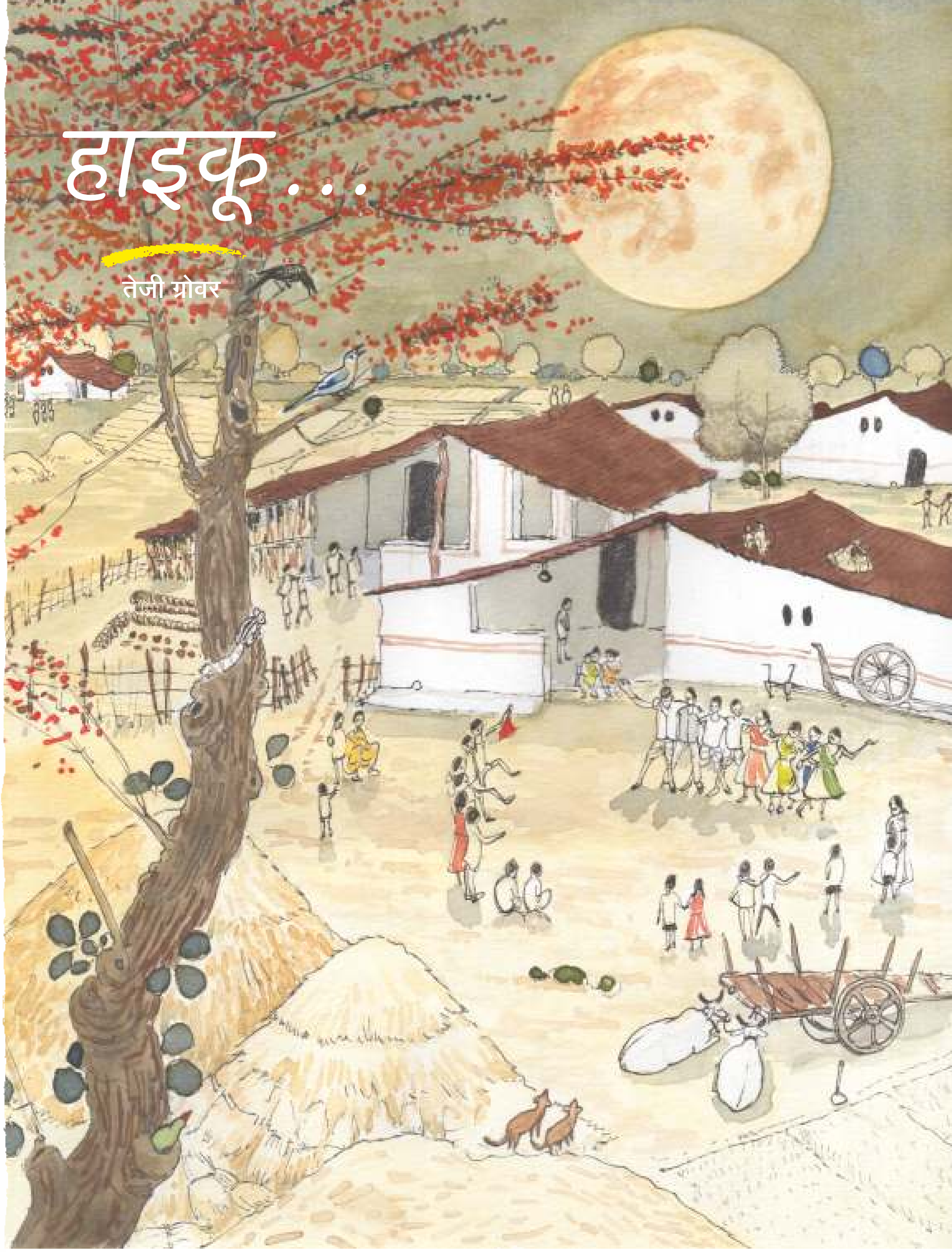

चित्रः नीलेश गहलोत

हाइकू *जापान की जानी-मानी कविताएँ हैं। जापानी भाषा में शायद दुनिया की सबसे नन्ही कविताएँ। इनमें से कुछ कई सौ साल पहले लिखी गई थीं और कुछ सौ-एक साल पहले। हर हाइकू के कई अँग्रेज़ी अनुवाद देखकर हमने इन्हें हिन्दी में लाने की कोशिश की है। इन्हें देखकर आप समझ जाओगे कि यह "चित्रलिपि" देखने में कितनी सुन्दर है। हमारी अपनी भाषाओं की लिपियाँ भी उन लोगों को बहुत सुन्दर लगती हैं जो उन्हें पढ़ नहीं सकते।*

मैंने चन्द्रमा को उठाया
अपनी पानी की बालटी में
और उसे घास पर उड़ेल दिया।
- रयू हो

क्या शानदार दिन है
पूरे गाँव में कोई भी
कुछ नहीं कर रहा।
- शूशिकि

सिर्फ एक चहकते
कीड़े ने मुझे बताया कि रात है,
इतना चमक रहा था चाँद।
- एत्सुजिन्

एक बूँद बारिश
पड़ी, और घोंघा
बन्द हो गया।
- बुसोन्

हाइकू में खास क्या है?

हम यहाँ ऐसी बहुत-सी बातों में से कुछ पर ही विचार करेंगे। प्रकृति के किसी सुन्दर दृश्य को देखकर जो भाव मन में पैदा होता है, उसे आप क्या कहेंगे? मन-ही-मन एक “वाह”– एक ऐसा सुख जो आपको रुला तक सकता है। हम साँझ के बादलों और घर जाते पक्षियों को नमस्कार करते हैं। और एक ही साँस में हाइकू कह देते हैं। जापानी भाषा ही ऐसी है कि यह हाइकू जैसी साँस उसमें आपको सुनाई पड़ती है।

लेकिन जैसे आप “योग” में साँस लेने और छोड़ने के नियम का पालन करते हैं, वैसे हाइकू में भी। जापानी हाइकू में केवल तीन से दस शब्द होते हैं। अगर तीन खड़ी पंक्तियों में लिखें, ऊपर से नीचे की ओर, तो पहली पंक्ति में पाँच स्वर, दूसरी में सात और तीसरी में फिर पाँच स्वर। यानी व्यंजन जितने भी हों स्वर कुल मिलाकर केवल सत्रह रहेंगे। दीर्घ स्वर को दो स्वर माना जाएगा। “मीठी” शब्द में चार स्वर गिने जाएँगे। लेकिन सत्रह स्वर वाले इस नियम का पालन अन्य भाषाओं में करना कठिन है – यानी जापानी भाषा में “टेलिग्राम” या “तार” की शैली अधिक सहज है।

लेकिन हम हर नन्ही जापानी कविता को हाइकू नहीं कह सकते। हाइकू के कुछ और भी प्यारे नियम होते हैं। घटना या दृश्य केवल एक होता है, और यह दृश्य अभी-अभी का होता है। एक और खास बात यह है कि हाइकू में मौसम का संकेत अकसर रहता है। मौसम का संकेत देनेवाले शब्द को “किगो” कहते हैं। तो “बादल” और “आलूचा” जापानी हाइकू में “किगो” कहलाएँगे।

हाइकू जापानी कविता की उस परम्परा से आए हैं जिसमें कविता कई लोगों के काम को जोड़-जोड़कर बनती थी। जापानी में कविता के लिए शब्द भी ऐसा है – जुड़े हुए अंश। हाइकू की परम्परा में कविता सबका जी खुश करने के लिए लिखी जाती थी और मनुष्य को प्रकृति का अंग मानकर चलती थी। मशहूर जापानी कवि बाशो कहा करते थे –

चीड़ के पेड़ के बारे में चीड़ से सीखो,
सरकण्डों के बारे में सरकण्डों से।

और हम शायद यह भी कह सकते हैं कि हाइकू के बारे में हाइकू से सीखो... वे ओस-भीगे पैरोंवाली चिड़िया की तरह आपके आँगन में कुछ लिख रहे हैं।

पत्ते नहीं जानते
कौन-सा पत्ता पहले गिरेगा..
क्या हवा जानती है?
- सोसएकि

मेरे छोटे-से गाँव में
मक्खियाँ भी नहीं डरतीं
बड़े आदमी को काटने से।
- इस्सा

हाय, मैंने क्यों तोड़े
और क्यों नहीं तोड़े
वे नीले रंग के फूल!
- अनाम

डरो मत, मकड़ियो
इतना साफ कहाँ रखता हूँ
मैं अपना घर!
- इस्सा

नदी किनारे के पेड़
क्या तेरे फूलों के अक्स
सच में बह जाते हैं?
- बुसोन्

अगर तुम कुछ और हाइकू पढ़ना चाहते हो तो यह किताब मँगाओ – आपके जापानी हाइकू। इस किताब की परिकल्पना की है – कवि-चित्रकार तेजी ग्रोवर ने। और इसे छापा है एकलव्य प्रकाशन ने।

इस किताब को मँगाने के लिए तुम चकमक के पते पर सम्पर्क कर सकते हो। यह किताब ऑनलाइन भी मँगवा सकते हो।

लद्दाख की कहानी – अनजाने की दोस्ती

जय पंड्या

गुलाबी नगरी से रंग-बिरंगे पहाड़ों की नगरी

मैं जयपुर का रहने वाला हूँ। वही, जिसे गुलाबीनगरी भी कहते हैं। मुझे घूमने का चस्का करीब सात बरस पहले लगा जब नौकरी के लिए पहली बार जयपुर से बाहर निकला। एक बार क्या निकला, मुझे एक नई दुनिया का पता चला। घुमक्कड़ी की दुनिया। कितना कुछ सीखने को था इसमें। नए लोग, नई जगहें। बस फिर क्या था! जब मौका मिला, निकल लिया झोला उठाकर।

मैं इस बार लद्दाख की यात्रा पर था।

लद्दाख जम्मू कश्मीर के पश्चिमी हिस्से में ठण्डा रेगिस्तानी हिस्सा है। पहाड़ ऐसे ऊँचे कि सिर को 90 डिग्री पर घुमा दो, तो भी चोटी ना दिखे। दिन में तेज़ धूप, लेकिन छाँव में जाओ तो ठण्ड ऐसी कि काटने को दौड़े। यहाँ सर्दी के दिनों में तो पारा इतना नीचे चला जाता है कि पानी से भरी लुटिया कुछ मिनिट के लिए बाहर छोड़ दो तो बर्फ बन जाए।

बावजूद इसके यहाँ की खूबसूरती बयान करना मुश्किल है। लद्दाख जैसा कुछ नहीं। इससे पहले घूमने की जगहों के नाम पर मैंने विशाल मैदान और महल ही देखे थे। लद्दाख में ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों का अम्बार है। ऊपर से सर्दी के दिनों में बर्फ स्वागत को तैयार। बारिश आए तो माथे पर बिन्दी जैसे चमकते खेत। पहाड़ भी ऐसे कि जिस रंग का नाम लो उस रंग का पहाड़ हाज़िर।

लद्दाखी रंग-बिरंगे पहाड़, पीछे सँकरी घाटी

ऊबड़-खाबड़ घास का मैदान – निमालिंग

इन सूखे पहाड़ों को बीच से काटते हुए जाती है सिन्धु नदी। इसी में कई सारी छोटी-छोटी नदियाँ आ मिलती हैं। ऐसी ही एक नदी है मारखा, जिस के स्रोत तक पहुँचने के लिए मैं निकला था। करीब सात-आठ दिन धीमे-धीमे चलने के बाद अब सफर खत्म होने को था। मैं निमालिंग (4720 मीटर) पहुँच चुका था। यहीं से मारखा शुरू होती है। मुझे अब कोंगमारू दर्रे (5200 मीटर) को पार करके चकदो गाँव पहुँचना था। करीब 20 किलोमीटर का सफर था। शुरू में चढ़ाई और बाद में सरपट ढलान।

इन इलाकों के गाँव भी ऐसे हैं जिनमें बस 10 घर हों, तो गाँव कह देते हैं। इतनी ऊँचाई पर हवा में ऑक्सीजन की मात्रा 50 प्रतिशत तक कम रह जाती है। ऐसे में, बराबर दूरी को नापने में तिगुनी मेहनत लगती है। अक्टूबर का महीना था। यात्राओं का मौसम खत्म हो चला था। ठण्ड बढ़ने लगी थी, इसलिए इक्के-दुक्के लोग ही दिखते थे।

निमालिंग वास्तव में कोई गाँव नहीं है। घाटी का-सा इलाका है जिसमें बारिश के बाद थोड़ी बहुत घास उग आती है। आसपास के गाँव के लोग अपने जानवर चराने के लिए यहाँ ले आते हैं। यहाँ के बाशिन्दों ने बाहर से आनेवालों के लिए कुछ टेंट लगा रखे हैं। इससे बिना कोई टेंट ढोए हमारे लिए सोने-खाने का इन्तज़ाम हो जाता है और वहाँ के लोग इस बहाने कुछ पैसे बना लेते हैं।

जबड़ कम्पन ठण्ड

मैं यहाँ अकेला आया था। एक अकेले हिन्दुस्तानी ट्रैकर को देखकर सब हैरान थे। उनका कहना था कि हिन्दुस्तानी लोग ऐसे घूमने नहीं आते। निमालिंग में मुझे कुछ विदेशी लोग भी मिले जो एक लद्दाखी गाइड के साथ थे। जैसे मुसीबत के साथी जल्दी ही दोस्त बन जाते हैं, वैसा ही मामला सर्दी का भी है। रात को कड़ाके की ठण्ड में खाने के वक्त खूब गप्पें लगाईं और फैसला किया कि सुबह जल्दी निकल पड़ेंगे।

पर वाह री बदकिस्मत! मेरे टेंट की चेन फटी हुई थी, सो रात भर बर्फ जैसी हवा सर्र-सर्र टेंट के अन्दर आती रही। मैंने तीन मोटी परतें पहनी हुई थीं और उसके ऊपर तीन रज़ाइयाँ थीं। फिर भी ठण्ड ने अपना रस्ता ढूँढ ही लिया था। किसी तरह आँख लगी। अभी एक घण्टे ही हुआ होगा कि ज़ोर की प्यास लगी। बाहर रखी पानी की बोतल खोली, तो पानी जमा हुआ मिला। शुक्र था कि एक गरम पानी की बोतल मैंने रजाई के अन्दर भी रखी हुई थी। उसमें अभी भी थोड़ा पानी था। कुछ घूँट गटके और फिर से रज़ाई में दुबक गया। मिनिट दर मिनिट गिनते बाहर थोड़ी हलचल सुनाई देने लगी। सुबह हो गई थी।

नीमालिंग – घास के मैदानवाली घाटी

रात होने के ठीक पहले, नीमालिंग में

क्या खूबसूरत दृश्य था! सूरज नहीं दिख रहा था, पर दूर ऊँचे, बर्फवाले पहाड़ सोने जैसे चमक रहे थे। हलकी-हलकी ठण्डी हवा, ज़्यों नींद के बाद अँगड़ाई ले रही थी। पासवाले किचन टेंट से धुआँ उठने लगा तो समझ आया कि नाश्ते की तैयारियाँ शुरू हो गई हैं। मेरी नींद पूरी नहीं हो पाई थी, फिर भी तरोताज़ा महसूस कर रहा था। धीरे-धीरे सूरज ऊपर आता गया। धूप पड़ी तो बदन में जान आ गई।

नीमालिंग से कोंगमारू ला की चढ़ाई

नाश्ते के बाद मैंने अपना बैग पीठ पर लादा। और दो डण्डों के सहारे अपनी राह पकड़ी। विदेशी दोस्त और लद्दाखी साथी कुछ देर पहले ही निकल चुके थे और दूर रास्ते में चींटी जैसे नज़र आ रहे थे। मैं कुछ देर चलता फिर पीछे मुड़कर देखता। रात को जिस टेंट में रुका था, अब काले धब्बे जैसा दिख रहा था। झक्क नीला आसमान और उसे ताकते पहाड़।

इस रास्ते पर मेरे दोस्त बने मारमोट। ये छोटे-से जीव चूहे जैसे दिखते हैं लेकिन आकार में उससे डबल होते हैं। वो अपने बिलों में से टुकुर-टुकुर देखते। और जैसे ही मेरा रास्ता मुझे उनके करीब ले जाता, वो झट-से छिप जाते। छुपम-छुपाई का यह खेल देर तक चलता रहा।

चढ़ाई धीमे-धीमे तीखी होने लगी थी और चलना मुश्किल। मैं मन ही मन कदम गिनता जा रहा था। एक-दो, तीन-चार... हर पचासवें कदम पर रुकता। एक घूँट पानी का भरता। हर बार सोचता कि ये कहाँ आ गया हूँ मैं। साँस में साँस आती तो फिर चल पड़ता। पचास कदम, चालीस बने और फिर तीस बन गए। करीब चार घण्टे चलने के बाद, आहिस्ता-आहिस्ता कदम नापते हुए, मैं आखिरकार पास पर पहुँच ही गया। फतेह!

“पास” अँग्रेज़ी का शब्द है जिसे लद्दाखी ज़ुबान में “ला” बोला जाता है। “ला” यानी घाटियों के बीच खड़े पहाड़ के सँकरे ऊँचे उठे हुए भाग का सबसे निचला हिस्सा। जहाँ से पहाड़ को पार किया जा सके। दूसरे शब्दों में एक घाटी से दूसरी घाटी जाने के रास्ते का सबसे ऊपरी हिस्सा।

कोंगमारू पास पर क्या गज़ब की हवा चल रही थी। ऐसी कि उड़ा ले जाए। बहाव के उलटी दिशा में हर कदम, लगभग असम्भव था। पास के ठीक टॉप पर “माने” बना हुआ था, जिस पर बँधे प्रेयर फ्लैग एक साथ मिलकर कदमताल कर रहे थे। “माने” एक के ऊपर एक पत्थर रखकर बनाया गया चौकोर ढाँचा होता है। बौद्ध धर्म में इसे अच्छे भाग्य के लिए बनाया जाता है। पहाड़ के ऊपर हिम्मत और भाग्य ही दो सबसे बड़े साथी हैं। मैं जल्दी से जाकर इसी “माने” की ओट में बैठ गया। अगला आधा घण्टा मैंने यहीं बिताया, प्रकृति को निहारते हुए। मुझे अपनी आँखों पर भरोसा नहीं हो रहा था।

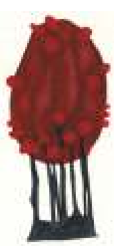

कोंगमारू ला, नीमालिंग की तरफवाले पहाड़ और "माने" पर बँधे प्रेयर फ्लैग

पास के दूसरी तरफ का रास्ता, खड़ी ढलान। वहाँ दूर कहीं अगला गाँव है।

पहाड़ की ऊँचाई से पाताल जैसी गहराई तक

पास के जिस तरफ से मैं आ रहा था, वहाँ चौड़ी घाटियाँ और घास के ऊबड़-खाबड़ मैदान थे। दूसरी तरफ खाई जैसी ढलान और सँकरी घाटी थी। मैंने हिम्मत जुटाकर चलना शुरू किया। एक बड़ा बैग मैंने अपनी पीठ पर लादा हुआ था और दूसरा छोटा कैमरा बैग अपनी छाती पर। नीचे देखना इतना आसान नहीं था। हर कदम मैं तोल-तोलकर रख रहा था।

पिछले दिनों में मेरे दाएँ पाँव के घुटने में हलकी-सी चोट आ गई थी। अब तक तो पता नहीं चला, पर अब नीचे उतरते समय मुझे वह महसूस होने लगी थी। अपना पाँव एक खास तरीके से रखता, तब ही दर्द नहीं होता था। इससे मेरी चाल धीमी हो गई थी। साँप जैसी पगडण्डी लगातार नीचे जाती जा रही थी, और मैं उसके साथ। थोड़ी देर बाद यह पगडण्डी ऊपर से आ रही पानी की धारा में जा मिली।

अब आगे का रास्ता नदी की तलहटी में था। पानी की धारा कभी इस तरफ तो कभी उस तरफ, कहीं मोटी तो कहीं पतली थी। कई जगहों पर तो खुद को गीला होने से बचाने के लिए एक से दूसरे पत्थर पर कूदना पड़ता। रंग-बिरंगी पहाड़ियों के बीच बर्फीला नीला पानी तेज़ रफ्तार से दौड़ रहा था। जैसे-जैसे आगे बढ़ा, इसकी रफ्तार और स्तर दोनों ही बढ़ते चले गए।

नीमालिंग से रवाना हुए कई घण्टे हो चुके थे, लेकिन इंसान का कहीं नामोनिशान तक नहीं था। और रास्ता था कि खत्म होने का नाम नहीं ले रहा था। तब मुझे महसूस हुआ कि इस घाटी में मैं अकेला हूँ। हाँ, कुछ पहाड़ी बकरियाँ ज़रूर नज़र आ रही थीं। ऐसे में मच्छर भी दिखे तो अपना-सा लगे।

जब मैंने 5200 मीटर ऊँचा, कोंगमारू पास (दर्रा) पार किया तो दिन के एक बजे थे। चकदो गाँव अब तक तो आ जाना चाहिए था। तलहटी का रास्ता, दोनों तरफ ऊँचे-ऊँचे पहाड़। मुड़कर ऊपर देखा तो बादल घुमड़-घुमड़ कर बरसने को तैयार थे। मैं डर गया। पानी बढ़ गया तो? अगर घाटी से बाहर आ भी गया, तो क्या रात खुले आसमान तले बितानी पड़ेगी? पारा शून्य के नीचे था। इस भयंकर सर्दी में यह जानलेवा हो सकता था।

वो दूर सफेद रंग का टेंट। रात होने को ही है।

दोराहे की उधेड़बुन, दिल या दिमाग?

मैंने अपनी रफ्तार बढ़ाई। जान का डर कैसी जान झोंक देता है इंसान में! कुछ देर के लिए तो मैं अपना दर्द पूरी तरह से भूल गया। एक पाँव इस पत्थर पर, दूसरा पाँव उस पत्थर पर। एक जगह कुछ पैरों के निशान पहाड़ के सहारे ऊपर जाते दिखे। दूसरी तरफ धूमिल-सी पगडण्डी नदी के साथ तलहटी की तरफ जा रही थी। दिमाग ने कहा ऊपर जा, पर मन बोला ऊपर जाने से तो और देर लगेगी, नीचे ही चलना चाहिए। मैंने मन की मानी। इस धार को, जो नदी-सी बन चुकी थी, तीन बार फल्लांगा। यह रास्ता मुझे एक चट्टाननुमा पत्थर के सामने ले आया। मैं उस पत्थर पर चढ़ा, लेकिन दूसरी तरफ देखता हूँ कि नदी गहरे गड्ढे से होकर जा रही है। उसे पार करना नामुमकिन था, वो भी अकेले। धत् तेरी की! सारी मेहनत पानी में।

मैं अनमना-सा पीछे चलने लगा। दो जगह फिर से फल्लांगा और तीसरी जगह पर धप्प! एक पत्थर धोखेबाज़ निकाला। आखिरी मौके पर फिसल गया और मेरा पाँव आधा पानी में। तब पता चला, ये पानी नहीं, पिघली हुई बर्फ थी। इस पतली नदी में गिरने से लगी तो नहीं, पर इसने मुझे झकझोर कर रख दिया था। मैं जल्दी के चक्कर में लापरवाह हो गया था।

मैंने हिम्मत बाँधकर फिर से चलना शुरू किया। कोई और रास्ता भी तो नहीं था। इस बार हर पाँव सम्भालकर रखा और जल्द ही ऊपरवाली पगडण्डी पकड़ ली। आगे जाकर समझ आया कि इस गड्ढे से बचाने के लिए ही यह रास्ता बनाया गया था। ऊपर जाकर ये पगडण्डी फिर से

तलहटी की तरफ हो चली। दिन ढलने में थोड़ा ही समय बचा था, और मुझे कुछ नहीं पता था क्या होने वाला है।

घाटी के दूसरी ओर

पन्द्रह मिनिट बाद सँकरी घाटी खुलती हुई दिखाई दी। घाटी के अन्त में एक बड़ा-सा सफेद रंग का टेंट दूर से दिखाई दिया। जब यात्री आते हैं तो यहाँ के लोग खाने-पीने का सामान बेचने के लिए ऐसे टेंट लगा लेते हैं। मुझे उम्मीद नहीं थी कि यहाँ कोई मिलेगा। और मैं तो चकदो गाँव की तलाश में था। यहाँ तो कोई घर भी नहीं दिख रहा था।

मैं धीमे-धीमे उस टेंट की तरफ बढ़ा। वहाँ कुछ हलचल-सी नज़र आई।

इंसान!

मुझे याद नहीं कि लम्बे समय में किसी व्यक्ति को देख मैं इतना खुश हुआ था। मेरी जान में जान आ गई। लगभग दौड़ते हुए मैं उसके पास पहुँचा। लम्बी कद-काठी का एक आदमी, चेहरे पर चाँद-सी मुस्कान लिए मेरे सामने खड़ा था। मेरे लिए यह जादू से कम नहीं था।

"जुल्ले जी! ये चकदो गाँव है?"

"चकदो तो अभी दूर है! आप कहाँ से आया?"

"नीमालिंग, सुबह चला था।"

"मैं चकदो ही जा रहा है, आपको ले चलेगा। कुछ घण्टे पहले ट्रैकर लोग आया था, वो बोला पीछे से एक हिन्दुस्तानी अकेला आ रहा है। हो सकता है वो रास्ता भटक जाए। उसका इन्तज़ार करना। वैसे तो मैं चार बजे चला जाता हूँ, लेकिन फिर आपका इन्तज़ार किया।"

"आपने मेरे लिए इन्तज़ार किया! आप नहीं मिलते तो आज जाने क्या होता! यहाँ से चकदो कितना दूर?"

"बस! चलो मेरे साथ 20 मिनिट।"

"मैं जय।"

"मेरा नाम कम्फा।"

कम्फा मेरे लिए फरिश्ते की तरह आया था।

जो घट रहा था मुझे उस पर यकीन ही नहीं हो पा रहा था।

वहाँ से रास्ता 20 मिनिट नहीं, 50 मिनिट का था। लेकिन कन्फा के पीछे भागते हुए, उसकी बातें सुनते हुए समय कब निकल गया पता ही नहीं चला! अब मुस्कान उसके ही नहीं, मेरे भी चेहरे पर थी। अँधेरा लगभग हो गया था। नदी को कई बार और फल्लांगा लेकिन अबकी मैं कम्फा के पैरों को देखता रहा था। मेरा हर कदम बिलकुल वैसे ही गया। कितना आसान बन गया था रास्ता!

उस रात कम्फा ने मुझे अपने ही घर रुकाया। मिट्टी के बने उस छोटे-से कमरे में परदे से ढँकी तीन खिड़कियाँ घाटी की तरफ खुली थीं। मैंने परदे को सरका के, खिड़की से बाहर झाँका। पूरा आसमान तारों से लदा हुआ था। चाँद तो नदारद था लेकिन एक तारे की चमक सबसे अलग थी।

उस दिन मैं निश्चिन्त होकर सोया। मुझे एक नया दोस्त मिल गया था। चक मक

हमारी कहानी का हीरो – कम्फा...

पीले और अन्य रंग को सेती चिड़िया

तेजी ग्रोवर

फ्रांस के जिस शहर में मैं और मेरे दोस्त इस समय हैं उसका नाम है नॉन्त। पिछले साल सितम्बर में हम यहाँ आए थे। अपना काम करने के लिए मुझे यहाँ एक संस्था में नौ माह की फेलोशिप मिली है। हम लोगों के रहने का इन्तज़ाम भव्य और सुन्दर लूआर नदी के तट पर पन्द्रह मंज़िले एक होटल में किया गया है। इस होटल से बाहर निकलकर प्राकृतिक रंगों की खोज करने और अलग-अलग देशों से आए बारह बच्चों के साथ मिलकर पेंटिंग करने में मुझे खूब मज़ा आ रहा है। हम सब ने मिलकर अलग-अलग चीज़ों से रंग बनाए हैं, लेकिन जिस रंग ने हमारे चित्रों को बेहद समृद्ध किया है, जिस रंग ने हमारे दिलों में सबसे अधिक खुशी पैदा की है, वह रंग हमें मिला लूआर नदी की मिट्टी से। यह मिट्टी इतनी चिकनी और मुलायम है कि मुझे ताज्जुब होता है यहाँ के कलाकारों को भला क्यों नहीं सूझा कि मिट्टी से भी चित्र बनते हैं, बनाए जाते हैं। चित्र बनाने लिए बाज़ारी और ज़हरीले रंगों को खरीदना ज़रूरी तो नहीं! चकमक के ... अंक में मैंने प्राकृतिक रंगों के बारे में लिखा था। यह चित्र भी मैंने कुछ-कुछ वैसे ही रंगों से बनाया है। फर्क सिर्फ इतना है कि ये वाले रंग फ्रांस की मिट्टी से उपजे हैं या फिर यहाँ बनाए गए हैं। लूआर नदी के तट पर हम लोग दो तरफ से ट्रैफिक से घिरे हुए हैं। लेकिन जिस दिन बादल न हों और घना कोहरा भी नहीं, उस दिन सूरज हमारी खिड़कियों में से उगता भी दिखाई देता है और डूबता भी।

लूआर नदी की मिट्टी से जो चित्र बने हैं, यह भी उन्हीं में से एक है। इसमें लगे अन्य रंग भी प्राकृतिक ही हैं। इनमें हल्दी प्रमुख है। यह कच्ची हल्दी है, फ्रांस ही की पैदावार हालाँकि पीला रंग हल्दी के पाउडर से भी उतना ही अच्छा बनता है। अनार और एवोकैडो फल के छिलके से भी अच्छे सलेटी और कत्थई रंग निकल आए थे। यह चित्र किसी शनिवार के दिन बना था। यहाँ शनि और इतवार के दिन पक्षियों के लिए भी मज़े के होते हैं। पुल पर ट्रैफिक न होने से समुद्री पक्षी, नदी के पक्षियों से खूब खेलते हैं और उनकी सफेद उड़ानों के नीचे काली और रंगीन बत्तखें मछलियों के लिए डुबकी लगाती हैं। तेरहवीं मंज़िल से यह दृश्य हमारे लिए देखने का एक बिलकुल नया ढंग प्रस्तावित करता है। एक सूर्य आसमान में था उस शनिवार के दिन और एक हर पक्षी के भीतर की मछली को गर्मा रहा था। इस चित्र को यहाँ के बच्चों से पूछकर जो नाम मैंने दिया है वह है: पीले और अन्य रंगों को सेते हुए। चकमक

स्कूल का पहला दिन

(पेज 23 का शेष भाग)

बतावा तानी।" मम्मी का गुस्सा ज्वालामुखी के लावे की तरह बढ़ता जा रहा था। इन लावों के रास्ते में हमारे आशियाने ने जगह पा ली थी। मम्मी ने ताला खोला और उनका ज्वालामुखी फूट पड़ा, "हमरा से त बहुत कहत रहलू, स्कूल जायब। का भईल! ऊ बच्चा सब ना रहलन का स्कूलवा में। आवे द बाप के फिर बताईब। हम तो बेकारे में इतना खर्च करनी।"

मैंने मम्मी की बात को काटते हुए कहा, "मम्मी क्या आप ने मेरी लाल-काली आँख नहीं देखी? मेम गन्दी थी। इसलिए मैं रो पड़ी थी। अच्छी मेम के पास नाम लिखवाना, तब नहीं रोऊँगी।" मम्मी मुझे डाँटी और मैं चुप हो गई। इस तरह थोड़ी देर बाद मैं नींद की नदी में बह गई।

दीदी ठीक एक बजे मेरे स्कूल के सामने जाकर खड़ी हो गईं। सभी बच्चे निकल चुके थे। दीदी को मैं क्या, मेरी परछाई भी नहीं दिखी। दीदी ने स्कूल में जाकर पूछा, "मैम, आपने मेरी बहन को देखा है क्या?" मैम ने इस बात पर पूछा, "क्या नाम है उसका?" दीदी ने कहा, "आयुषी।" "अच्छा आयुषी, वह तो कब की चली गई।" यह सुनकर, काफी शंकाओं के साथ दीदी भागती हुई घर आई। मैं उन्हें घर पर हँसती हुई पाई गई। चकमक

आयुषी, सातवीं में पढ़ती हैं। अंकुर कलेक्टिव में नियमित सुनने-पढ़ने-बोलने-लिखने का रियाज़ कर रही है। ये दिल्ली के सावदा घेवरा कॉलोनी में रहती हैं।

माधुरी पुरन्दरे...

(पेज 41 का शेष भाग)

पड़ते हैं। चश्मा पहने पिता मावले की वेशभूषा में कैसे दिखेंगे ये कल्पना करनेवाली अनु, रूठा हुआ यश, नाना,राधा आदि अनेक चित्र बच्चों को बेहद पसन्द हैं। माधुरी जी की हाल ही में आई *सख्खे शेज़ारी* और *पाँचवीं गली* इन दो किताबों के चित्र ज़रूर देखे जाने चाहिए। *एक सौ सैंतीसवाँ पैर* में जंगल के चित्र इतने सजीव हैं कि लगता है उसके पेड़-पौधे अभी डोलने लगेंगे। ऐसी गुणवत्ता वाले चित्र मात्र सजावट के लिए नहीं होते, उनसे शब्दों के अर्थ और रस के अनेक पहलू उजागर होते हैं।

बिग लिटिल बुक अवार्ड के लिए माधुरी जी को बहुत बधाई! चकमक

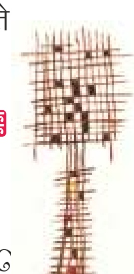

ज़िन्दगी और ज़ीस्त के जशन के लिए

सी एन सुब्रह्मण्यम

मुझे याद नहीं है कि मैं रेक्स से पहली बार कैसे मिला। शायद इसलिए क्योंकि रेक्स किसी से अजनबी बनकर नहीं मिलता था। न मिलनेवाले को यह अहसास दिलाता था कि वे पहली बार मिल रहे हैं। वो हमेशा ऐसे मिलता जैसे हम हमेशा एक साथ काम कर रहे हों। उसके तब दो बच्चे थे – निक्की और ताशा। बड़े उद्दण्ड और अराजक। हमें लगता कि जब बचपन स्वतंत्र हो जाएगा तो सारे बच्चे ऐसे ही होंगे। वे स्वतंत्र बचपन की हमारी कल्पना का साकार को करते दीखते थे।

रेक्स व्यवसायिक बुद्धिजीवियों से चिढ़ता था। विश्वविद्यालयों में पढ़े, पढ़ा रहे जीव – जो दूसरों को अपने ज्ञान से दबाते थे। और जो ज़मीनी हकीकतों को न देखते हुए बस बतियाते रहते थे। उतनी ही चिढ़ उसे राजनैतिक सहीपन से थी। उसने हमेशा दुनिया को एक अलग नज़र से देखा जो ज़मीन और लोगों से ज़्यादा करीब थी। और जो देखा उसे बेबाक कहता रहा। उसने कभी भी अपनी बात पर मुलम्मा या शक्कर की परत लगाकर नहीं कही। खरी-खरी बात कहता था। एक ऋषि या कवि की तरह।

जब चकमक का पहला अंक तैयार हो रहा था, तो उसने मुझ से इतिहास पर एक लेख माँगा। मेरा लिखा उसे बहुत भाया और उसने कहा कि यही लेख पहले अंक की कवर स्टोरी होगी। मैंने उसे सुझाया कि उसके लिए चित्र कैसे होने चाहिए। रेक्स ने सुन लिया और कहा, “ठीक है। मुझे सोचने दो।” मेरे कहने के बावजूद उसने प्रेस में जाने से पहले वह अंक नहीं दिखाया। उन दिनों हम सब भोपाल गैस त्रासदी के प्रभावों से जूझ रहे थे। मार्च-अप्रैल 1985 में उस त्रासदी पर एक प्रदर्शनी बनी। इसके बनने में रेक्स का बड़ा हाथ था। वह आँसू बहाकर श्रद्धांजली देनेवाला अंक नहीं था। वह दिल को हिला देनेवाले सवालों से बना था। शीर्षक था – “जन विज्ञान का सवाल।” उसकी प्रदर्शनी पहले होशंगाबाद के सेठानी घाट पर हुई। उसका नया रूप राजेश उत्साही के संयोजन में देवास में तैयार हुआ। इस प्रदर्शनी को देवास ज़िले के कई कस्बों में दिखाया गया और सभाएँ की गईं। एक ऐसी ही सभा में रेक्स चकमक के पहले अंक को लेकर पहुँचा। इसे गैस त्रासदी के मृतकों को समर्पित किया गया था। वहीं चकमक का विमोचन भी हुआ। वाकई कवर में मेरे लेख का चित्र था, लेकिन वैसा बिलकुल नहीं जैसी मैंने कल्पना की थी। रेक्स ने उभरते कलाकार जनगढ़ सिंह श्याम से उनकी विशिष्ट शैली (जो जनगढ़ कलम के नाम से प्रसिद्ध है) में इस लेख का चित्रांकन कराया था। मेरी कल्पनावाले चित्र शायद कभी भी याद में नहीं टिकते मगर जनगढ़ के चित्रों ने उस लेख को एक अमिट चेहरा दे दिया। चकमक के इस पहले अंक में कई और अधिक विस्फोटक बातें थीं। उसमें यूनियन कार्बाइड और सरकार की काफी आलोचना थी। इसका नतीजा यह हुआ कि शिक्षा विभाग जिसके सहयोग से चकमक को प्रकाशित होना था, ने अपना हाथ खींच लिया। चकमक का संघर्षशील इतिहास वहीं से शुरू हुआ।

प्रदर्शनी जत्थे के जोशीले अनुभव से निकलकर रेक्स ने कल्पना की उड़ान भरी। उसकी कल्पना यह थी कि चकमक पत्रिका का आधार होगा चकमक क्लब का एक जाल। बच्चे उसके सदस्य होंगे। उन्हें सदस्यता के लिए कोई निशानी (बैड्ज) मिलेगी और सब कसम खाएँगे कि वे धर्म-जात-पात-ऊँच-नीच- लड़का-लड़की आदि का भेदभाव नहीं करेंगे। सब मिलकर विज्ञान समझने व सीखने का प्रयास करेंगे, पुस्तकालय चलाएँगे, चकमक में लिखेंगे आदि आदि। चकमक पत्रिका इन सब क्लबों को जोड़नेवाला और उन्हें नेतृत्व देनेवाला मंच होगा। देवास जत्थे का आयोजन करनेवाले स्याग भाई ने इस विचार को ज़मीन पर उतारा और चकमक क्लबों का एक बड़ा आन्दोलन देवास में तैयार किया। चकमक क्लब और चकमक के बीच उतना गाढ़ा सम्बन्ध तो नहीं बन सका जैसी रेक्स की कल्पना थी। मगर दोनों के बीच रिश्ता ज़रूर गहरा बना।

रेक्स का मानना था कि बच्चों को अच्छे साहित्य की भूख है। उसने चकमक के शुरुआती अंकों को एक ऐसा रूप दिया जिसमें तमाम जानकारी, सवाल, नज़रिए, गतिविधियाँ, ठूँसठूँस कर भरी होती थीं। हममें से बहुत लोगों को लगता था कि यह बहुत ज़्यादा हो रहा है। हम रेक्स से कहते भी थे – इसे ज़रा हलका करो, कुछ जगह खाली भी छोड़ो...। रेक्स का जवाब नवम्बर के अंक में आया। मेरे खयाल में यह पहला मेरा पन्ना अंक था। पिपरिया और किशोर भारती (पलिया पिपरिया) जो रेक्स की पुरानी कर्मभूमि थी और जहाँ उसकी करीबी

दोस्तियाँ भी थीं, वहाँ बाल मेला का आयोजन किया गया। बच्चों से चित्र बनवाए गए, कहानी-कविता, आपबीती आदि लिखवाई गईं। बाकी ऐसे प्रयासों से यह अलग था। इसमें बच्चों की मौलिकता पर ज़ोर था न कि आदर्श चित्र, कविता, कहानी आदि पर। मेरा मानना है कि यह नवम्बर विशेषांक बाल पत्रकारिता में एक नया मोड़ लाया।

इन सब बातों का श्रेय रेक्स के अलावा और लोगों को भी जाता है। रेक्स के साथ हमसफरों की एक फौज थी – विनोद रायना, राजेश उत्साही, जया विवेक, श्याम बोहरे, तेजी ग्रोवर, कमल, हरगोविंद, गोपाल राठी....। वे हमेशा एक-दूसरे से बहस करते हुए, अपने काम में लगे रहते। और असम्भव डेडलाईनों का पीछा करते हुए दिखते थे। इन सबके बीच वे सब लगातार नई चीज़ें सोचते रहते थे, और मेरे जैसे नए लोगों की मदद करते रहते थे।

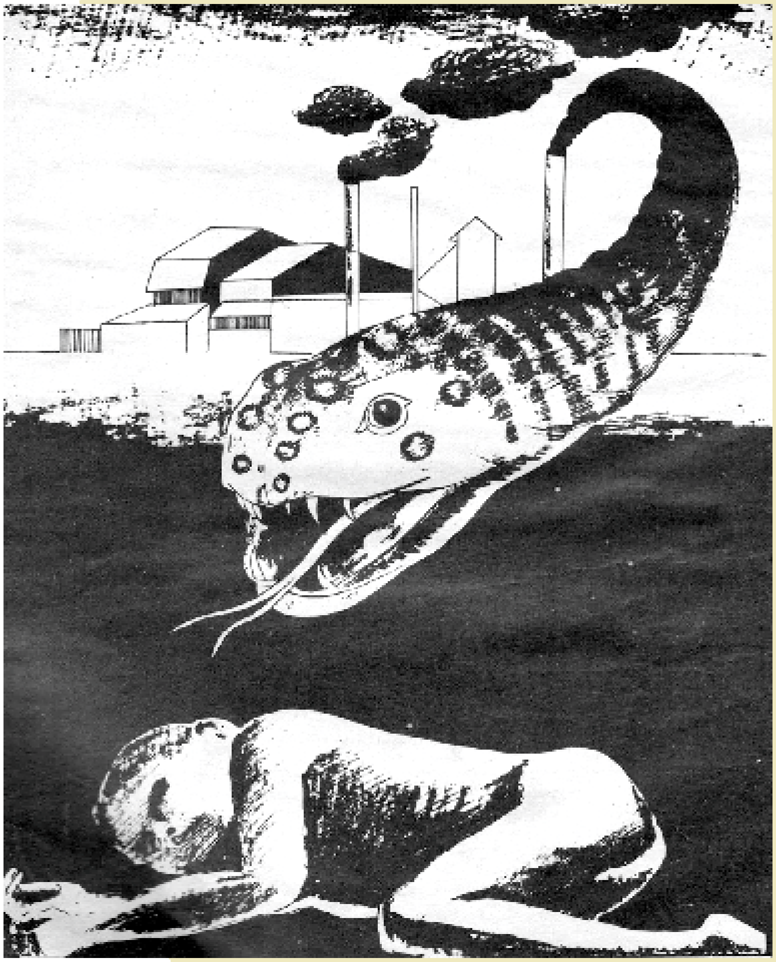

चकमक के इस पहले अंक में कई और अधिक विस्फोटक बातें थीं। इसका नतीजा यह हुआ कि शिक्षा विभाग जिसके सहयोग से चकमक को प्रकाशित होना था, ने अपना हाथ खींच लिया। चकमक का संघर्षशील इतिहास वहीं से शुरू हुआ।

बहुत पुरानी बात है। एक दिन रेक्स विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम की किसी कार्यशाला में होशंगाबाद आया था। हम पीछे के कमरे में काम कर रहे थे। वो आते ही बोला, "अरे यार, तुम लोग कितने दिन तक ऐसे ही कमरे में घुसकर काम करते रहोगे? इसका कोई मतलब नहीं है। तुम लोगों को तो स्कूल में जाकर पढ़ाकर देखना चाहिए। तभी बात आगे बढ़ेगी।" हमने कहा, "कौन-से स्कूल में जाएँ? और वहाँ जाकर क्या पढ़ाएँ?" रेक्स ने तुरन्त दो स्रोत शिक्षकों से मिलाया और तय करा दिया कि हम उनके स्कूलों में जाकर कुछ नए तैयार अध्याय पढ़ाकर देखेंगे। इस अनुभव ने सामाजिक अध्ययन शिक्षण कार्यक्रम बनाने में बहुत मदद की। उस कार्यक्रम के तहत जब हम किताब तैयार करने लगे तो चकमक टीम ने ही हमें सहारा दिया और प्रकाशन की टेक्नोलॉजी से अवगत कराया। कदम कदम पर मदद की। एकाध साल बाद एकलव्य में प्रकाशन के लिए कम्प्यूटर आए और रेक्स ने सर्वप्रथम उस पर महारथ हासिल की। उसी ने हमें माउस चलाना सिखाया और पेजमेकिंग की तकनीक और सिद्धान्तों को समझाया।

कुछ साल बाद उसे दिल की बीमारी हुई और बाईपास ऑपरेशन हुआ। उसके बाद वह खाड़ी देशों में चला गया। 2003 में लौटकर आया तो उसके दिमाग में नए कीड़े थे। यह वह समय था जब भारत की डेमोग्राफिक डिविडेंड या युवा उत्कर्ष की चर्चा शुरू नहीं हुई थी। लेकिन रेक्स के जुबान और दिमाग में युवा पीढी हावी थी। वह देख पा रहा था कि भारत में एक नया युवा वर्ग तैयार हो रहा था जो पुरानी पीढ़ी वालों से बहुत अलग था। पुराने साँचों में ढलने से मना कर रहा था। उसकी रुचियाँ अलग थीं। सोच नई और कुछ हद तक मूल्यों व राह को तलाशते हुई। ये केवल शहरों तक सीमित नहीं है बल्कि गाँवों में भी महत्वपूर्ण बनता जा रहा था। ये सब रेक्स के आंकलन थे। रेक्स चाहता था कि हम इस पीढ़ी को समझें और उसकी ज़रूरतों को समझकर उस तक पहुँचें। उसकी राह और मूल्यों की खोज में सहायक बनें । इस कल्पना को लेकर रेक्स ने एक बार फिर एक नया प्रयास शुरू किया – क्यों और कैसे। यह दीवार अखबार थी (पत्रिका पढ़ने की फुर्सत किसके पास है)। बहुत ही संक्षेप और विचारोत्तेजक लेख। सटीक जानकारी। भाषा बिलकुल नई..।

रेक्स के कान हमेशा ज़मीन से लगे रहते थे। लेकिन नज़र उसकी हमेशा कहीं दूर, आगे, टिकी होती थी – एक आज़ाद, समानता पर आधारित और खुश समाज की ओर जिसमें ज़िन्दगी और ज़ीस्त का जश्न हो।

Farewell Dear Rex!!

चकमक की पहली टीम, अंक जुलाई 1985

संपादन : रेक्स डी रोजारियो, श्याम बोहरे, राजेश उत्साही, निशा व्यास
संपादन सहयोग : आर.के. भटनागर, रश्मि पालीवाल, हृदयकांत, अरविंद गुप्ता, सी.एन. सुब्रह्मण्यम्, अनीता रामपाल
कला/सज्जा : जया विवेक
कला/सज्जा सहयोग : रमेश दुबे, एलीथिया डी. रोजारियो
उत्पाद एवं वितरण : एच.के. बिसवास, कमलसिंह
प्रबंध : विनोद रायना
पत्र व्यवहार का पता : एकलव्य, E-1/208, अरेरा कालोनी, भोपाल—462 016

ओके बाय रेक्स, बाय,

रश्मि पालीवाल

मैं जब एकलव्य संस्था में काम करने पहली बार होशंगाबाद आई तो रेक्स ने ही मेरा स्वागत किया था। ऑफिस के बगल में उसका घर था। और रेक्स के जानदार, गर्मजोशी से भरे परिवार की निकटता ने नई जगह और संस्था में सहज हो जाने में मेरी बहुत मदद की। उनमें क्या गज़ब की बात थी कि वो हर बन्दे को उसके सपनों की याद करवाता रहता था। कामकाज की रोज़मर्रा की ज़िम्मेदारियों में अकसर हम भूल जाते हैं कि हमारे सपने क्या थे। रेक्स मिलते ही तपाक से पूछता था, "क्या चल रहा है? इसमें तुम खुश हो? वो क्या है जो तुम सच में करना चाहती हो? उसके पीछे लगो - बाकी सब होता रहेगा।"

एक बार मैंने उससे कहा था कि मैं पुस्तकालय में ऐसी किताबें खोजकर रखना चाहती हूँ जिनसे हमें विज्ञान, समाज-विज्ञान के तमाम ज़रूरी मामलों का जीवन्त परिचय अपने आप हो जाए। और पाठ्यपुस्तकों की जगह ऐसी किताबें ही शिक्षा का माध्यम हो जाएँ। उसके बाद जब कभी वो मिलता मेरे उस सपने की टोह लेता और मुझे लताड़ता कि मैंने उसके लिए कोई भी कोशिश क्यों नहीं की है।

कभी वो अपने खुद के किसी ताज़े-ताज़े फितूर में मग्न हो जाता और उस सपने का जादू हम पर चलाने की कोशिश करता। "कम ऑन यार – ये करो – आई टेल यू यार – ये है करने की चीज़।" जैसे एकलव्य में एक नेशनल सेंटर फॉर टीचर एजुकेशन बनाओ – ये उसका आखिरी फितूर था जिसकी उसने कई बार वकालत की।

उसका एक और राग जिसे वो हमेशा अलापता था कि नए, युवा साथियों को आगे करो – उनके हाथ में कमान सौंपो। जब भी मिलता तो पूछता कि इस दिशा में मैं क्या कर रही हूँ। और डाँट लगाता कि सत्ता से चिपकी मत रहना। मैं कुछ समझाती कि क्या स्थिति है तो अपने खरे-खरे अन्दाज़ में कहता, "बहाने मत बनाओ। रोज़ का कामकाज छोड़ो। औरों को सम्भालने दो। तुम नए काम उठाओ। जो सच में करना चाहती हो।" वो अपनी बात कहकर अचानक सारी बहस को खतम कर देता, "ओके बाय" कहता और बहुत स्नेह के साथ विदा लेता। चक मक

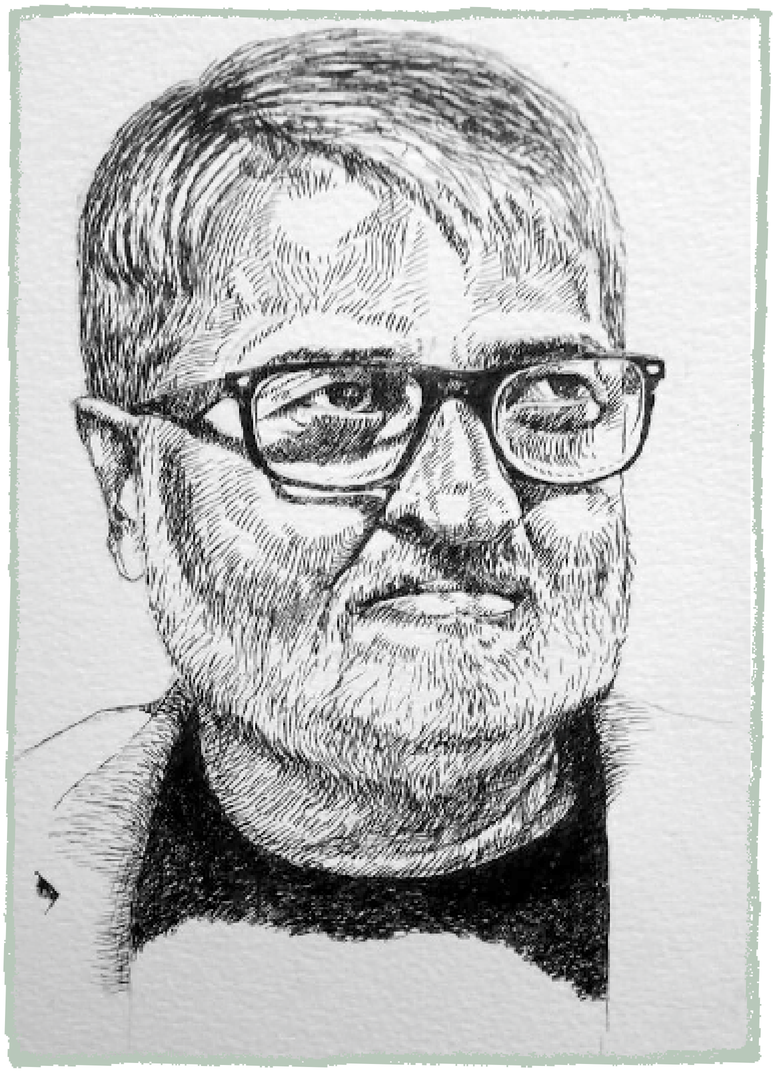

चित्रः हबीब अली

नाडिया, क्या तुम खुश हो?

नाडिया जेनेवीव डी'रोज़ारियो

"नाडिया...." वो अपने खास लहज़े में कहते। वो धीमी पर गहरी भारी आवाज़ जैसे कह रही होती – सच-सच बताना, "... नाडिया...क्या तुम खुश हो?" डैडी के लिए यह सवाल किसी भी चीज़ से ज़्यादा अहमियत रखता था। वो जीवन भर खुद से भी यही पूछते रहे थे – क्या तुम खुश हो?

आज मैं उस शख्सियत को बहुत प्यार और गर्व से याद करती हूँ। और कोशिश करूँगी कि उनसे विरसे में मिले को आगे ले जाऊँ। उनके सपनों को ज़िन्दा रखने की कोशिश करूँ।

डैडी के लिए खुशियों के क्या मायने थे?

डैडी की खुशियाँ उनके परिवार में बसती थीं। उनके भाई-बहन-दूर-पास के रिश्तेदारों-उनकी प्रिय पत्नी-बच्चों-बहुओं और खास तौर पर उनके पोते-पोतियों में। वो इनके लिए कभी भी, कुछ भी करने को तैयार रहते। न खुद की परवाह, न फिक्र करते हुए...।

खुशियाँ उनके लिए उन कामों में थीं जिनकी अहमियत पर उन्हें पूरा यकीन था। वो एकलव्य के ज़रिए ग्रामीण भारत में शिक्षा में किए बदलाव हों या सम्भावना ट्रस्ट के साथ भोपाल गैस पीड़ितों के लिए किए जा रहे संघर्ष में भागीदारी। वे इतने धुनी और भाषा और कहन के ऐसे धनी थे कि उनके साथी अचम्भित रह जाते।

डैडी की खुशियाँ संगीत में थीं। उसे सुनते हुए वो पूरी तरह से तरंगित हो जाते। उनके लिए संगीत माने संगीत था – कोई भी। रॉक-पॉप-मोजार्ट-लोक संगीत...। उनका दिल जैसे संगीत की थाप पर ही धड़कता। कभी बाँसुरी की धुन छेड़ते, कभी वॉयलिन पर उनकी उँगलियाँ थिरकतीं। खुलकर नाचते। कहते, "नाचते समय कोई शर्म-झिझक न हो। बस, इस पल को जियो।"

संगीत सुनते हुए पैदल लम्बे निकल जाना उन्हें बड़ी खुशी देता। हाँ, लौटते हुए कीमा-कलेजी लाना कभी न भूलते। "चलते हुए अच्छे से सोच पाता हूँ।" ...एक बार उन्होंने कहा था।

खाने-खिलाने में उन्हें बड़ी खुशी मिलती। मलाबार फिश करी...भुना माँस...। इडली-साम्बर में उँगलियाँ डुबाए हुए एक दिन बोले थे, "इससे अच्छा कुछ नहीं।" चॉकलेट तो उनके खीसे में हमेशा बनी रहतीं।

गाँधी चश्मा हो, नेहरू जैकिट, आजकल के फैशन की शर्ट-टी शर्ट...वो सब पे हाथ आज़माते। एक दिन चुपके से मेरे कान में बोले, “क्यों चेहरे की मालिश-वालिश-उबटन हो जाए?” फिर हँसते हुए बोले, “पर इस काले रंग पर चढ़े न दूजो रंग।”

दोस्तों के साथ घूमना-फिरना, उन्हें घर बुलाना खाना-पिलाना, संगीत सुनना, उनकी बातें सुनना, उनके सुख-दुख में शामिल होना उन्हें खुशी देता। “पर तुम इससे आगे का क्यों नहीं सोचते। जो आज कर रहे हो उससे ज़्यादा कुछ और।” गपशप के बीच में वो अचानक बोल पड़ते। उनका इरादा घुसपैठ का नहीं रहता था। वो चाहते कि हम अपनी हदों को और फैलाएँ। अपने काम के, सोच के दायरों को और अपनी अपनी काबीलियतों को भी। “लीक पर चलते रहने में क्या मज़ा...”

वे मेरे पिता से कहीं ज़्यादा थे। मेरे रोल मॉडल, मेरे गुरू, मेरी उम्मीदों की किरन, मेरे दोस्त। वो कहते कि कल के लिए तैयारी करना तो ठीक है, पर आज की कीमत पर नहीं। आज जो हो रहा है उसमें शामिल रहना ज़रूरी है।

वो हर दिन जिए। अपनी शर्तों पर। अपने सपनों को जिया। अपनी धुन में चले – उन्हें कोई अफसोस नहीं...। जो सोचा, उसे कर लिया। जीवन जीने का बस यही ढँग आता था उन्हें।

“मेरे लिए रोना नहीं... मुझे याद रखना और हर पल को दिल से जीना। और मेरी हड्डियों को वाइन में डुबोकर अचार बना लेना...।”

डैडी आपकी याद हमेशा आती रहेगी...खुशियों का सबक आपसे ही तो सीखा है, जाना है...

वे किसी काम में खपे नहीं

कमल सिंह

रेक्स से मैं पहली बार 83 में मिला था। होशंगाबाद में।

बहुत ही बढ़िया जने थे वो। एकदम मस्त। सब को घर बुलाते। परिवार से मिलाते। जो उनको जानता था। उनके परिवार को भी जानता था। उनके घर हर किसी का आना-जाना था।

एकलव्य में जो शुरू-शुरू में लोग आए, रेक्स भाई उनमें से एक थे। एकलव्य को खड़ा किया। “चकमक”, “स्रोत” को शुरू किया। दीवार अखबार “क्यों और कैसे?” को शुरू किया। उसे शीर्ष तक पहुँचाया। पर उसी में नहीं खपे। आगे बढ़ गए।

हर नए काम को उतने ही जोश खरोश के साथ। कभी ऊबे नहीं दिखे।

और एक और बात, हमेशा लाग लपेट बिना दो टूक बात करते थे।

जब वो खलीज टाइम्स चले गए तो उनसे सम्पर्क कुछ समय न रहा। एक दिन उनकी चिट्ठी मिली। उसकी पहला लाइन थी –

कमल तुम मर गए हो कि ज़िन्दा हो? इतने दिन हो गए कोई खबर नहीं।....

कोई बहुत प्यार, स्नेह से भरा व्यक्ति ही यह लिख सकता है।

बहुत याद आएगा तुम्हारा प्यार रेक्स भाई!

हमने पकाई है एक डायरी... तुम्हारे लिए!

आकर्षक चित्रों से सजे-धजे डेढ़ सौ पन्ने

इसका नाम है - दुबली चींटी सबसे आगे थी...

यह डायरी बहुत ही दोस्ताना स्वभाव की है। तुम्हारे पास आते ही तुमसे बातें करेगी...रोज़-रोज़ तुम्हारे ही पड़ोस की नई-नई चीज़ों से, लोगों से मिलवाएगी। तुम्हारे साथ चाँद-तारे निहारेगी। तुम्हें चित्र बनाने के लिए नए-नए विषय सुझाएगी। कई बातें होंगी जो तुम अब तक किसी को नहीं बताते होगे...तुम इस डायरी से साझा कर सकते हो।

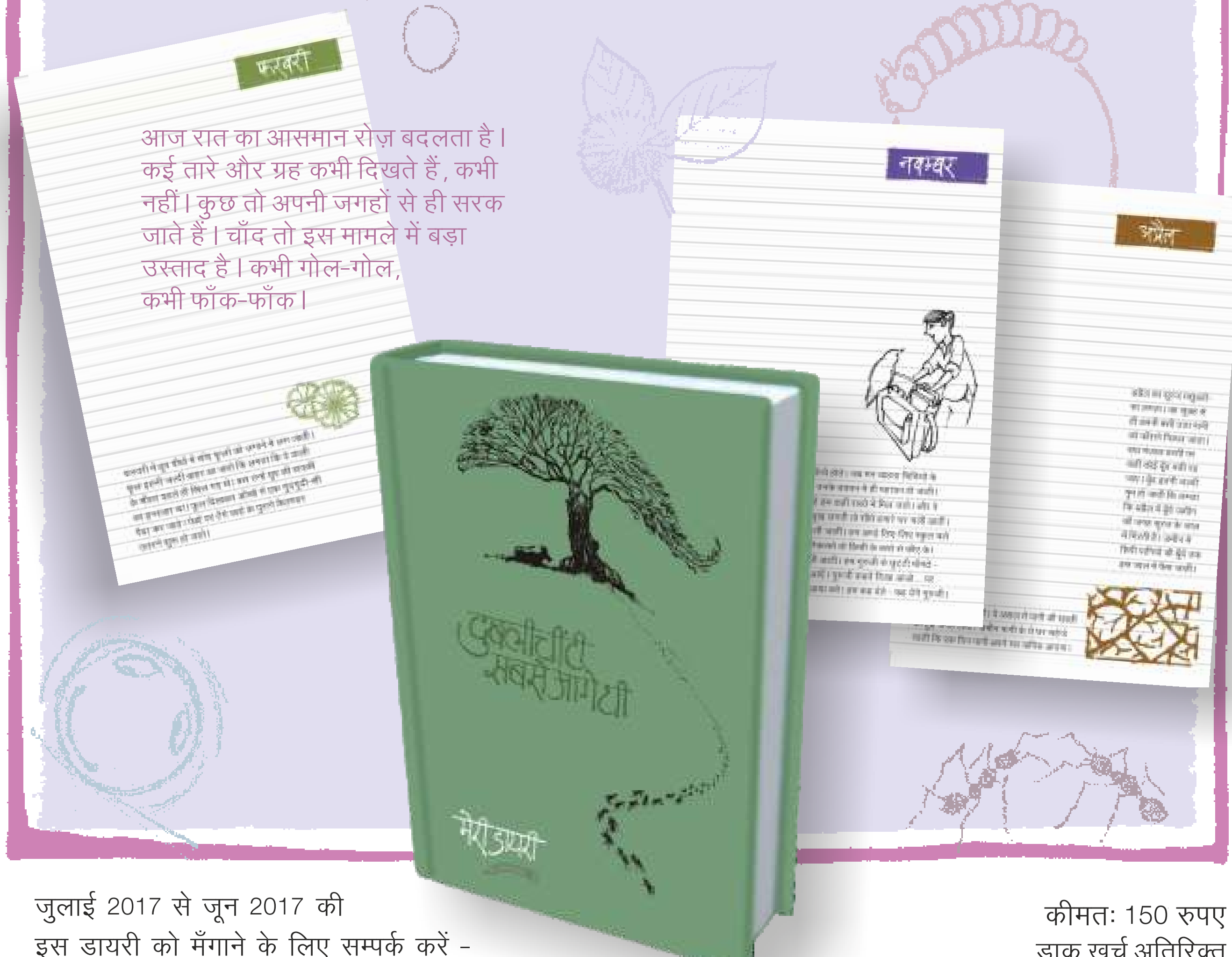

जुलाई 2017 से जून 2017 की
इस डायरी को मँगाने के लिए सम्पर्क करें -

एकलव्य
ई-10, शंकर नगर, बीडीए कॉलोनी
शिवाजी नगर, भोपाल - 462016 (म.प्र.)
फोन - 09425010115, 0755 - 2671017, 4252927, 9425010115
email - chakmak@eklavya.in, pitara@eklavya.in www.chakmak.eklavya.in www.eklavya.in

कीमत: 150 रुपए
डाक खर्च अतिरिक्त
10 से अधिक प्रतियों का डाक खर्च हम देंगे

भुगतान एकलव्य के नाम से बने चैक/मनिऑर्डर/ड्राफ्ट द्वारा भेजें।
भोपाल के बाहर के चैक में 80.00 रुपए अतिरिक्त जोड़ें।

इच्छू और बिनिया

शशि सबलोक

"इच्छू ये चीटिंयाँ मिठाई कैसी ढूँढ लेती हैं?"

"घूमते-घूमते अगर कोई चींटी मिठाई के पास पहुँच जाए तो सब को बता देती है। वो अकेले थोड़े ही खा सकती है। सब मिलकर खाती हैं। मिलकर घर बनाती हैं। मिलकर रहती हैं।"

"तब तो मुझको भी चींटी बनना है!" बिनिया बोली। "इच्छू तुझको क्या बनना है?"

"मुझको पानी में मज़े से पड़े रहना अच्छा लगता है। मैं तो भैंस बनूँगा। तुझको दूध अच्छा लगता है ना बिनिया। तो तू दूध पीने आना।"

"पर तब तो मैं चींटी होऊँगी! मैं दूध कैसे पी सकती हूँ?" बिनिया बोली।

"अच्छा तो भैंस छोड़... मैं गन्ना बन जाता हूँ।" इच्छू सोचते हुए बोला। "तब तू रस पीने आना।"

"नहीं, मैं अकेले नहीं, हम बहुत सारी चींटियाँ आएँगी।" बिनिया बोली।

"हूँ... अरे नहीं, गुदगुदी होगी।"

"तू तो गन्ना होगा। गुदगुदी नहीं होगी।"

"अरे, गुदगुदी ही नहीं होगी? ये भी कोई बात हुई? मुझे नहीं बनना गन्ना-वन्ना। मैं तो चींटी ही बन जाता हूँ।"

चित्र : प्रिया कुरियन

"पर तब तो मैं तुझको देख नहीं पाऊँगा।" इच्छू सोचता हुआ धीरे-से बोला।

"क्यों?"

"चींटी की आँखें नहीं होती है ना!"

"अरे, तो क्या, मैं भी तो नहीं देख पाऊँगी। पर दोनों साथ-साथ रहेंगे। चीनी-वीनी खाते रहेंगे। घूमेंगे-फिरेंगे।"

"नहीं नहीं....अपन तो बिनिया-इच्छू ही बनकर रहेंगे...कभी-कभी थोड़ी देर को चींटी, गन्ना, भैंस, सुअर बन जाया करेंगे..."

"हाँ... चींटी, गन्ना, भैंस, सुअर, बिनिया-इच्छू सब बराबर...।" बिनिया भी ज़ोर-से बोली।

माथापच्ची

1 छह लोगों ने अपनी गाड़ी एक छह मंजिला स्टोर की पार्किंग में रखीं। हरेक व्यक्ति को अलग-अलग मंजिल पर जाना था। सबने लिफ्ट से जाना तय किया। सिमोन सबसे ज़्यादा देर तक लिफ्ट में रही। सारा प्रथम से पहले और टिया के बाद लिफ्ट से निकली। सबसे पहले हैरी लिफ्ट से बाहर आया। देबराज टिया के बाद लिफ्ट से बाहर आया। ज़रा बताओ तो कौन, कौन-सी मंजिल पर गया?

2 एक डलिया में रखे फूल हर 10 मिनट में दुगुने हो जाते हैं। 60 मिनट में डलिया पूरी तरह भर जाती है। तो डलिया के आठवें भाग को भरने में कितना समय लगेगा?

पानी से निकला दरख्त एक,
पात नहीं पर डाल अनेक
दरख्त की ठण्डी छाया,
पर नीचे कोई बैठ ना पाया

(फव्वारा)

3 एक टेबल टेनिस की गेंद एक कड़क गहरे पाइप में गिर गई है। पाइप का मुँह गेंद से थोड़ा ही चौड़ा है। तुम उसमें अपना हाथ डालकर गेंद नहीं निकाल सकते। पाइप को बिना कोई नुकसान पहुँचाए तुम उसमें से गेंद कैसे निकालोगे?

4 अयान और जसमीत लंचटाइम में स्कूल में खेल रहे थे। तभी लंच खत्म होने की घण्टी बजी। जैसे ही वो क्लास में वापिस जाने के लिए मुड़े कि अचानक से आँधी आ गई और चारों ओर धूल उड़ने लगी। जब आँधी रुकी तो जसमीत का चेहरा धूल से सना हुआ था जबकि अयान का चेहरा बिलकुल साफ था। लेकिन आँधी के रुकते ही अयान मुँह धोने के लिए तुरन्त नल की ओर भागा जबकि जसमीत जिसके चेहरे पर धूल थी वो क्लास की ओर जाने लगी। अयान और जसमीत दोनों ही साफ-सफाई का बराबर ध्यान रखते थे फिर उन्होंने ऐसा क्यों किया?

चित्र : दिलीप चिंचालकर

चित्र पहेली
► बाएँ से दाएँ
▼ ऊपर से नीचे
સુરત
सूरत
SURAT
फरवरी 2017
sun mon tue wed thu fri sat

RNI क्र. 50309/85 डाक पंजीयन क्र. म.प्र. / भोपाल / 261 / 2015-17

... जहाँ वो फर्नीचर की बड़ी दूकान है वहीं तीन पेड़ थे। दो इमलियाँ और एक नीम। इस दूकान को खोदकर देखोगे तो उन तीनों की जड़ें मिलेंगी। उनमें से एक इमली चढ़ने के लिए सरल थी। हम सब उस पर चढ़ जाते थे। बारह-पन्द्रह फुट ऊपर तक। एक बार मैं इस फर्नीचर की दूकान के भीतर गया। धरती में नीचे तो इमली को देखने जा नहीं सकता था। इसलिए आसमान में गया। फर्नीचर की दूकान चार मंज़िला थी। मैं दो मंज़िल तक गया। इमली के पेड़ पर भी हम वहीं तक जाते थे। पन्द्रह फुट। दूकान वाले ने पूछा, "क्या देखना है?" मेरे मुँह से झट-से निकला, "इमली।" मुझे मालूम था इसके बाद वह क्या कहेगा। इसलिए बिना यह सुने कि उसने क्या कहा मैं तेज़ कदमों से नीचे चला आया।...

मैं हरा सूरज बनाता हूँ। हरा ऊँट बनाता हूँ। हरा दरवाज़ा घर में लगा है। और घर दरवाज़े में लगा है। इसलिए घर बनाता हूँ तो हरा बनाता हूँ। एक बार मैंने फर्नीचर की दूकान वाले तक को हरा बनाया। मैंने सबसे खुश कौए उसी इमली पर देखे थे। इसलिए कौए बनाए तो हरे। मैं सूरज को हरा बनाता हूँ तो टीचर डाँटते हैं। अजीब बात है। कोई हरे पेड़ से फर्नीचर की दूकान बनाता है तो कोई टीचर नहीं डाँटता।

सुशील शुक्ल

प्रकाशक एवं मुद्रक अरविन्द सरदाना द्वारा स्वामी रैक्स डी रोज़ारियो के लिए एकलव्य, ई-10, शंकर नगर, 61/2 बस स्टॉप के पास, भोपाल 462016, म.प्र. से प्रकाशित एवं आर. के. सिक्युप्रिन्ट प्रा. लि. प्लॉट नम्बर 15-बी, गोविन्दपुरा इंडस्ट्रियल एरिया, गोविन्दपुरा, भोपाल - 462021 (फोनः 0755 - 2687589) से मुद्रित।
सम्पादकः सुशील शुक्ल